भट्ट निबन्धावली

(दूसरा भाग)

सम्पादक

श्री धनंजय भट्ट 'सरल'

२००५

हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग

प्रकाशकीय

श्रीमान् बड़ौदा-नरेश सर सयाजीराव गायकवाड़ महोदय ने बम्बई के सम्मेलन में स्वयं उपस्थित होकर पाँच सहस्र रुपये की सहायता सम्मेलन को प्रदान की थी। उस सहायता से सम्मेलन ने सुलभ-साहित्य माला के अंतर्गत कई सुन्दर ग्रन्थों का प्रकाशन किया है। अन्य हिन्दी प्रेमी श्रीमानों के लिए स्वर्गीय बड़ौदा-नरेश का यह कार्य अनुकरणीय है।

स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट का हमारे गद्य निर्माताओं में एक विशिष्ट स्थान है। प्रस्तुत पुस्तक उन्हीं के कुछ चुने हुए साहित्यिक निबंधों का संग्रह है। इसका पहला भाग भी सम्मेलन से प्रकाशित हो चुका है। आशा है, हिन्दी प्रेमी सज्जन तथा विद्यार्थीगण इससे लाभ उठायेंगे।

साहित्य मन्त्री

द्वितीय संशोधित संस्करण : मूल्य १)
मुद्रक—जगतनारायणलाल, हिन्दी साहित्य प्रेस, प्रयाग

वक्तव्य

भारतेन्दु-युग आधुनिक हिन्दी का बाल्य-काल था। इस काल में अम्बिकादत्त व्यास, बदरीनारायण 'प्रेमघन', राधाकृष्णदास, राधाचरण गोस्वामी, तोताराम, काशीनाथ खत्री, कार्तिकप्रसाद खत्री, श्री निवासदास आदि अनेक गद्य लेखक पाए जाते हैं, पर यदि इनमें निबन्ध-लेखकों को चुना जाय तो केवल दो ही व्यक्ति दृष्टिगोचर होते हैं—बालकृष्ण भट्ट और प्रताप नारायण मिश्र। इसमें पं० बालकृष्ण भट्ट का कार्य पं० प्रताप नारायण मिश्र से कहीं अधिक महत्व का है क्योंकि वे हिन्दी गद्य को अत्यधिक शुद्ध तथा परिमार्जित करके उसे साहित्य के उपयुक्त बनाने में सर्वथा सफल हुए। पं० प्रताप नारायण मिश्र के द्वारा हिन्दी गद्य में जो कुछ शिथिलता आ गई थी उसका प्रतिकार भट्ट जी ने किया। मिश्र जी की भाषा में विशेष कर व्यंग्य और हास्य लिखने में ग्रामीणता का झलक आ जाया करती थी, उसी भाषा ने पं० बालकृष्ण भट्ट के द्वारा सुन्दर, समीचीन, साहित्यिक रूप धारण किया। पं० प्रताप नारायण मिश्र ने हिन्दी-गद्य का जो उपवन लगाया था भट्ट जी ने चतुर माली की भाँति उसके विटपों की अनावश्यक सघनता की काट-छाँट की और नए-नए सुन्दर पौधों को अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित करके उसमें सरस साहित्यिक सौरभ का सञ्चार किया।

उस समय अंग्रेजी का प्राबल्य, हिन्दी-शब्दकोष का दौर्बल्य और उर्दू भाषा का सर्वत्र प्रवेश देखकर हिन्दी भाषा को व्यापक बनाने की चिन्ता से भट्ट जी ने हिन्दी-उर्दू मिश्रित भाषा का जिसे खड़ी बोली कहते हैं प्रचार करना शुरू किया। उसमें चलतापन, विविध भाव प्रकाशिनी क्षमता, और स्वच्छन्दता पैदा करने के लिए पर्याप्त परिश्रम किया। उस समय तक हिन्दी में पंडिताऊपन, ब्रज या पूर्वीय भाषा

का पुट और सानुप्रासिक शैली चली आ रही थी। इन सब को इन्होंने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के सहयोगी और सहचरी बन कर दूर किया और हिन्दी को शुद्ध और स्वच्छन्द बना कर इस गद्य शैली को सर्वव्यापक और सर्वमान्य बना दिया। हिन्दी-गद्य में साहित्य का अलौकिक गुण भारतेन्दु जी के बाद इन्हीं के प्रभाव से पूर्ण रूप में आया है।

हिन्दी-गद्य के शब्द-भंडार को समृद्ध बनाने में भी इन्होंने बहुत कुछ प्रयत्न किया। संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित और शुद्ध हिन्दी भाषा के अनन्य प्रेमी होते हुए भी वे परम्परागत प्रचलित शब्दों के व्यवहार में ही नहीं अटके और न संस्कृत शब्दों की भरमार से भाषा को क्लिष्ट बनाने में ही अपनी शक्ति नष्ट की। उनका कहना था कि यदि किसी भाव को उत्तमता के साथ प्रकट करने के लिए अपनी भाषा में ठीक-ठीक शब्द न मिलें और विदेशी भाषा में वैसा उपयुक्त शब्द मिलता हो तो उसके व्यवहार करने में दोष न समझना चाहिये। इसी सिद्धान्त के अनुसार उर्दू तो क्या वे प्रायः फारसी अरबी या अंग्रेजी आदि भाषाओं के शब्द भी प्रयोग किया करते थे। जब कभी उन्हें किसी भाव को व्यक्त करना अभीष्ट होता और हिन्दी में अंग्रेजी का पर्याय-वाची शब्द न मिलता और उसको पूर्णरीति से स्पष्ट करने में अंग्रेजी शब्द ही समर्थ मालूम होता तो वे निस्संकोच उन्हें भी ब्रैकट के अन्दर लिख देते थे। इसी प्रकार कभी-कभी निबन्धों के शीर्षक भी हिन्दी के साथ अंग्रेजी में भी दिया करते थे जैसे—"Are the nations and individual two different things ?" "Peace is sought by war" इत्यादि।

वह नए-नए शब्द और मुहावरों को गढ़ने में भी बड़े सिद्धहस्त थे। किसी आशय को प्रकट करने के लिए जब उन्हें ठीक-ठीक शब्द नहीं मिलते थे तो वे तुरन्त नए-नए शब्द और मुहावरे बना लेते थे। इनके निबन्धों में स्थान-स्थान पर सुन्दर मुहावरों की

लड़ी सी गुथी रहने के कारण उसमें एक प्रकार का सम्मेलन उत्पन्न हो जाता और भाषा में रोचकता, कान्ति, ओज और आकर्षण आ जाता था।

भट्ट जी की हिन्दी उनकी "अपनी हिन्दी थी" और उस पर उनकी छाप लगी रहती थी। उनकी भाषा की व्यङ्गमयी छटा उन्हीं की अपनी प्रवृत्ति और सम्पत्ति थी। उनके निबन्ध भी हमेशा नए से नए उन्हीं के विचारों की उपज रहा करते थे। उनके प्रत्येक निबन्धों में गम्भीर अध्ययन, अनुभव, और पाण्डित्य का परिचय पग-पग पर मिलता था। परन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है उनकी विद्वत्ता कभी भाषा की सुबोधता या सरलता में बाधक नहीं हो पाती थी। वह हमेशा ऐसी भाषा में लिखते थे जिससे पढ़ने वालों की रुचि उसकी ओर बढ़े और उसमें व्यक्त किए हुए भाव उसके हृदय में तत्काल ही प्रवेश कर अंकित हो जावें। इसीलिये उनकी सभी प्रकार की रचनाओं में मनोरंजकता का पूर्ण समावेश रहता था और उनके गम्भीर से गम्भीर विषयों पर लिखे गए निबन्ध भी हास्य से रिक्त नहीं होते थे।

हिन्दी में भट्ट जी ने ही भावात्मक निबन्धों का सृजन किया और उसका विस्तार और प्रचार भी किया। इसी प्रकार विचारात्मक निबन्धों का प्रणयन भी इन्होंने ही किया है। इस प्रकार के इनके निबन्धों में विचारों की सुश्रृंखल योजना, उनका क्रम-बद्ध उद्घाटन और यथातथ्य विवेचन का पूरा समावेश रहता था है। पद्यात्मक प्रणाली में गद्य लिखना आज-कल साधारण बात हो गई। भट्ट जी ने उस समय इस प्रकार के पद्यात्मक गद्यों की भी प्रभाव पूर्ण रचना की थी। आधुनिक अंग्रेजी पढ़े हुए लेखकों के लेखों में जो कोष्ठबन्दी होती है उसका आविर्भाव भी हिन्दी में पहले पहल इन्होंने ही किया था। इन्हीं सब गुणों से साहित्यिकों ने इन्हें "आविष्कारक गद्यलेखक" कहा है और इनकी तुलना अंग्रेजी साहित्य के "एडीसन" और "स्टील" से की है। बहुत से विद्वानों ने इनके निबन्धों का मुकाबला अंग्रेजी के

१—ज्ञान और भक्ति

ज्ञान और भक्ति दोनों परस्पर प्रतिकूल अर्थ के द्योतक मालूम होते हैं; ज्ञान के अर्थ हैं जानना या जानकारी और ज्ञ धातु से बना है। भक्ति भज धातु से बनी है जिसके अर्थ हैं सेवा करना या लगाना (टू सर्व ऑर टू डिवोट)। मनुष्य में जानकारी स्वच्छन्द या सर्वोपरि रहने के लिये प्रेरणा करती है, जो अज्ञ या अबोधोपहत हैं वे ही दूसरे के आधीन या मातहत रहना पसन्द करते हैं। एक या दो मनुष्यों की कौन कहे समस्त जाति की जाति या देश का देश के साथ यह पूर्वोक्त सूत्र लगाया जा सकता है। अमेरिका में ईस्ट इंडियन्स और अफ्रिका के काफिर अथवा काले-कुरूप हबशी क्यों गुलाम बना लिये गये और यूरोप की सभ्य जाति ने सहज में उन्हें जीत अपने वशंवद तथा आधीन बना लिया? इस लिये कि इन हब्शियों में तथा ईस्ट इण्डियन्स में ज्ञान तथा बुद्धि-तत्व की कमी थी जो सर्वथा अज्ञ और अबोधोपहत होते हैं। ज्ञान आध्यात्मिक उन्नति (स्पिरिचुअल प्रोग्रेस) का मुख्य द्वार है। नेशन में "नेशनेलिटी" जातीयता और आध्यात्मिक उन्नति (स्पिरिचुआलिटी) दोनों साथ-साथ चलती हैं अर्थात् कोई कौम जब तक अपनी पूरी तरक्की पर रहती है तब तक रूहानी तरक्की का घाटा या अभाव उसमें नहीं पाया जाता।

भारत में वैदिक समय आध्यात्मिक उन्नति का मानों एक उदाहरण था; ज्यों-ज्यों उसमें अन्तर पड़ता गया भारत आरत दशा में आग बराबर नीचे को गिरता गया। उपरान्त पुराणों की सृष्टि ने लोगों में बुद्धि का पैनापन न देख भक्ति को उठाय खड़ी किया इसलिये कि लोग ब्रह्मचर्य के ह्रास से बुद्धि की तीक्ष्णता खो बैठे थे उसने कुशाग्र-बुद्धि के न रहे कि आध्यात्मिक बातों को भली-भाँति समझ सकें। भक्ति ऐसी

रसीली और हृदयग्राहिणी हुई कि इसका सहारा पाय लोग रूखे ज्ञान को अवज्ञा और अनादर की दृष्टि से देखने लगे और साथ ही साथ जातीयता नेशनैलिटी को भी विदाई देने लगे—जिसके रफूचक्कर हो जाने से भारतीय प्रजा में इतनी कमजोरी आ गई कि पश्चिम के देशों से यवन तथा तुरुष्क और मुसलमानों को यहाँ आने का साहस हुआ।

इसी बीच त्यागी शंकराचार्य जन्म ग्रहण कर उसी रूखे ज्ञान को पुनः पुष्ट करने लगे—"संसार सब मिथ्या स्वप्न सदृश है; हमी ब्रह्म हैं; पाप-पुण्य, स्वर्ग-नर्क दोनों एक और बन्धन के हेतु हैं" इत्यादि-इत्यादि न जानिये क्या-क्या खुराफात सींच करने लगे—यहाँ तक कि प्रच्छन्न बौद्ध इन आधुनिक वेदान्तियों के अद्वैतवाद से महर्षि कृष्णद्वैपायन के वेदान्त दर्शन म बड़ा अन्तर पड़ गया। प्रेम, सहानुभूति, प्राणपण के साथ स्वदेश-गौरव का ममत्व, आदि जो जातीयता के बढ़ाने के प्रधान अंग हैं सबों पर पानी फिर गया; आध्यात्मिक उन्नति जिसका ज्ञान एक अंग हैं उसमें शंकर के अद्वैतवाद का कुछ भी असर न पहुँचा। बौद्धों को पराजित कर हिन्दुस्तान से निकाल देने ही के लिये शंकर महराज की विशेष चेष्टा रही इस लिये सायन, माधव, वाचस्पति आदि इनके अनुयायी तथा कुमारिल और गौड़पाद प्रभृति महापण्डित जो शंकर के समकालीन थे इन सबों की चेष्टा भी केवल वाद के ग्रन्थ निर्माण पर विशेष हुई। आर्ष-प्रणाली छहो शास्त्र को सर्वथा भुला दी गई केवल वाद मात्र रहा; आध्यात्मिक विषयक वास्तविक 'प्रेक्टिकल' कुछ न रहा। हम पहले सिद्ध कर चुके हैं आध्यात्मिक उन्नति (स्प्रिचुअल प्रोग्रेस) और जातीयता (नेशनैलिटी) या (पॉलिटिक्स) मुल्की जोश साथ-साथ चलते हैं।

हमारे यहाँ जिस समय मुहम्मद गोरी आदि अत्याचारी मुसलमान विजेता सब ओर से देश को आक्रमण किये डालते थे उस समय संस्कृत में प्रत्येक विषय के कैसे-कैसे आकर ग्रन्थ निर्माण किये गये पर उनमें पॉलिटिक्स की कहीं गन्ध नहीं पाई जाती। वही चाल अब तक संस्कृत

के पुराने पण्डितों में कायम है। लड़ना-भिड़ना केवल अबोधोपहत राजपूत बेचारे और विषय-लम्पट कतिपय राजाओं ही में रह गया। देश के विद्वानों में इसका कुछ भी असर न पड़ा। अन्त को यह कहावत ही चल पड़ी 'कोई नृप होहिं हमें का हानी। चेरी छोड़ न होउब रानी" और अब तो इस अंग्रेजी राज में दक्षिणा-लम्पट इन कोरे पण्डितों का कुछ अद्भुत हाल हो गया कि जिससे कुछ संशोधन या देश का उद्धार है उसमें जहाँ तक बश चलता है अड़चन डालने को मुस्तैद रहते हैं। क्षत्रियों में जब जोश बाकी न रहा तो इन पण्डित और ब्राह्मण बेचारों की कौन बात रही? तालीम की धारा में सभ्यता के सामने ब्राह्मणों की चतुराई का खुलासा इनके वर्त्तमान बिगड़े हुये हिन्दू धर्म को पूछता कौन है?

अस्तु, इसी समय स्वामी रामानुज तथा मध्वाचार्य जन्म ले सेव्य-सेवक भाव की बुनियाद डाल अहं ब्रह्मास्मि के प्रचार को बहुत कुछ ढीला किया पर दासोऽस्मि कह इतना दास्य भाव और गुलामी को लोगों की नस-नस में भर दिया कि जिससे ब्रह्मास्मि ही बल्कि अच्छा था कि लोगों में स्वच्छन्द रहने की उत्तेजना तो पाई जाती थी। भक्ति का रसाला शुद्ध-स्वरूप वल्लभाचार्य विशेष-कर कृष्ण चैतन्य महाप्रभु ने दिखाया। प्रेम, सहानुभूति, ऐक्य आदि अनेक बातें जो हमारे में "नेशनैलिटी" कायम रखने के मुख्य अंग हैं उनकी जड़ जहाँ तक बन पड़ा पुष्ट किया पर ये लोग ऐसे समय में हुये जब देश का देश म्लेच्छा-क्रान्त हो रहा था और मुसलमानों के अत्याचार से नाकों में प्राण आ लगे थे। इससे आध्यात्मिकता पर इन्होंने बिल्कुल जोर न दिया बल्कि यह कहना अनुचित न होगा कि ऋषि प्रणीत प्रणाली को हाल के इन आचार्यों ने सब भाँति तहस-नहस कर डाला। भक्ति-मार्ग की उन्नति की गई किन्तु हमारी आध्यात्मिक अवनति के सुधार पर किसी की दृष्टि न गई। शुद्ध स्फटिक-सी भक्ति की जो विमल-मूर्ति थी उसमें से कज्जल-सी कालिमा का उद्गार होने लगा। मूर्खता संक्रामित हिन्दू जाति के लिये

यह भक्ति बानर के हाथ में मणि के सदृश हुई। अब इस भक्ति में दंभ जितना समा गया उतना चित्त की सरलता, अकौटिल्य और सच्चाई नहीं पाई जाती। भक्ति मार्ग के स्थापित करने वाले महाप्रभुओं के समकालीन भक्त जनों मे सच्ची भक्ति का पूर्ण उद्गार था; उन महात्माओं का कितना बिमल चित्त था; अकुटिल भाव के रूप थे; यही कारण है कि उन्हें भगवान् का साक्षात्कार हुआ। मीराबाई, सूरदास, कुंभनदास, सनातन गोस्वामी आदि कितने महापुरुष ऐसे हो गये जिन के बनाये भजन और पदों में कैसा असर है जिसे सुन चित्त आर्द्र हो जाता है। मुल्की जोश की कोई बात तो इन लोगों मे भी न थी उसकी जड़ ही न जानिगे कब से हिन्दू जाति के बीच से उखड़ गई पर परमार्थ साधन और आर्जव के तो वे सब लोग स्तम्भ-सदृश हो गये।

अब ऐसे लोग इस भक्ति मार्ग में क्यों नहीं होते यही एक पक्का सबूत है कि अब इसम भी केवल ऊपरी ढोंग-मात्र रह गया। वास्तविक कोई बात न बच रही जिससे हमारे हिन्दू धर्म के विरोधियों को यह कहने का मौका अलबत्ता मिला कि यहाँ आध्यात्मिकता कुछ नहीं है। दुनिया भर को अध्यात्म का रास्ता दिखानेवाला भारत आध्यात्मिक विषय से शून्य है। ऐसा कहने और मानने वालों की कुण्ठित-बुद्धि को हम कहाँ तक पछतायँ? तवारीखों से साबित है कि ईसा और मुहम्मद आदि यहाँ का कण-मात्र पाय सिद्ध हो गये। वही भारत के सन्तानों को समय के बलाबल से यह सब सुनना पड़ता है; सात समुद्र के पार से आय बिदेशी लोग अब हमें ज्ञान देने और सभ्यता सिखाने का दावा बाँध रहे हैं; लाचारी है।

मार्च, १९०२

२—बोध, मनोयोग और युक्ति

किसी वस्तु के देखने सुनने छूने चखने व सूँघने से जो एक प्रकार का ज्ञान होता है उसे बोध (फीलिंग आर सेन्सेशन) कहते हैं; परन्तु यथार्थ में केवल बोध से ज्ञान नहीं होता; प्रकृत-ज्ञान (परसेप्शन) बोध और साधारण ज्ञान दोनों मिल के होता है और वह प्रकृत-ज्ञान बोध तुम्हें कितना ही हो बिना मनोयोग के नहीं होता; अतएव केवल बोध में मन अस्थिर रहता है और ज्ञान जो मनोयोग के द्वारा होता है उसमें स्थिर रहता है। जैसे घड़ी जो आठो पहर बजा करती है उसे कभी हम सुनते हैं कभी नहीं सुनते। पास धरी हुई घड़ी का शब्द सुनने का कारण यही असनोयोग है जिसके बजने का बोध तो सभी अवस्था में हुआ करता है पर उसके शब्द का ज्ञान अर्थात् घड़ी में कै बजा इसका ज्ञान हमें तभी होता है जब हम दत्तावधान हो मन का संयोग उसके बजने में करते हैं।

यह थोड़ा सा वर्णन दार्शनिक बोध का यहाँ किया गया; अब लोक में बोध और प्रकृत-ज्ञान (परसेप्शन) किस प्रकार होता है और क्या उसका परिमाण है सो देखाते हैं। "पहिले हमने देखा कि यह बालक बड़ा सुन्दर और हँसमुख है। देखते ही उसकी प्रशंसा करने लगे चाहे यह प्रशंसा मन ही मन हो या प्रगट में ही। प्रशंसा करते करते उस बालक पर स्नेह का भाव उत्पन्न हुआ तो यहाँ बालक को पहले देखने को हम बोध (सेनसेशन) कहेंगे और उस पर जो स्नेह का होना सो मानो प्रकृत-ज्ञान (परसेप्शन) कहलाया। सौन्दर्य प्रेम का प्रधान कारण ठहरा परन्तु उस प्रेम में यदि किसी कारण भय आदि का संसर्ग न आ गया हो तो। सिंह मनोहर जन्तु है सही पर फाड़ने

वाले सिंह पर कौन प्रेम करेगा ? बोध मनुष्य मात्र मे होता है परन्तु युक्ति-सिद्ध बोध उपकारी है और युक्ति-विरुद्ध बोध सिवा अपकारी के अतिरिक्त उपकारी हो ही नहीं सकता। अभिलाषिता पाणिगृहीती युवती पर प्रेम अनिष्टकारी नहीं हैं क्योंकि दाम्पत्य प्रेम भावी सुख का प्रधान कारण है। किसी कारण अन्य स्त्री पर प्रेम करना अनिष्टकारी है इसलिये युक्ति-विरुद्ध कहलावेगा। सदैव भयभीत रहना अपकारी है किन्तु किसी-किसी समय भयभीत होना उपकारी भी होता है। क्रोध महा अनिष्टकारी है किन्तु संयम से क्रोध भी उपकारी होता है।" महाभारत का वाक्य है—

"तस्मान्नोत्सृजेत्तेजो न च नित्यंमृदुर्भवेत्।
काले काले तु संप्राप्तेमृदुस्तीक्ष्णोऽपि वा भवेत्॥"

वैदिक समय के लोग यहाँ बोध के बड़े अनुयायी थे जो वस्तु उन्हें सुन्दर और तेजोमय देख पड़ी उसपर बहुत कुछ दत्त-चित्त हो जाते थे उसके सौन्दर्य से आकर्षित हो जैसा सूर्य, चन्द्रमा, उषा विद्युत् आदि को ईश्वर की बड़ी भारी शक्ति-मान देवताओं में गिना। कारण इसका यही है कि वे कोमल और सरल चित्त थे अब के लोगों के समान बाँके तिरछे और मन के मैले न थे। उस समय डाह और ईर्षा का बहुत कम प्रचार था। जैसा अब है वैसा तब न था कि कोई किसी का ऐश्वर्य नहीं देख सकता। प्रजा को किसी तरह की पीड़ा का नाम भी न था। पैदावारी का छठवाँ हिस्सा केवल राजा को देते थे अब इस समय सब मिल तृतीयांश सम्पूर्ण उपज का राजा निगल लेता है, चतुर्थांश में भी जो बच रहता है समय-समय दुर्भिक्ष आदि दैवी उपद्रव के कारण सुख और स्वास्थ्य प्रजा के लिये दुर्लभ है। पुराने ऋषि मुनि अपने बोध और मनीषिता के उपरांत जो विचारते थे उसमें द्वेष-बुद्धि और पक्षपात का दखल नहीं होने पाता था इसी लिये वे आप्त कह-लाये और उनके विचार या खयाल सर्वथा सत्य होते थे मिथ्या का कहीं उसमें लेश भी न था। बहुत से यूरोप खण्ड निवासी साधारण

ज्ञान (कॉमनसेन्स) के पक्षपाती हैं। वे कहते हैं; किसी वस्तु के विचार में बहुत-सा तर्क-वितर्क व्यर्थ है केवल साधारण ज्ञान के द्वारा कार्य करना चाहिये। उन लोगों का यह भी मत है कि साधारण ज्ञान बिना विचार के उत्पन्न होता है अर्थात् ऐसा ज्ञान मन का एक स्वाभाविक धर्म है। हमारे देश में उसे साधारण ज्ञान न कह, समझना, जी में बैठना, मालूम पड़ना इत्यादि शब्दों का प्रयोग उसके लिये करते हैं। साधारण ज्ञान सदा सत्य नहीं होता कितने ऐसे विषय हैं जिनकी युक्ति साधारण ज्ञान के भीतर नहीं आती और जिसका विचार करने को हमारा साधारण ज्ञान समर्थ भी नहीं है। बहुधा द्वेष, बुद्धि, ईर्ष्या इत्यादि के कारण मिथ्या होती है इसलिये जिसे समझना कहेंगे उसमें आधा साधारण ज्ञान रहता है और आधा द्वेष आदि के कारण मिथ्या बोध है। उत्कृष्ट बोध साधारण ज्ञान और सर्वोत्कृष्ट युक्ति तीनों से उनका समझना रहित होता है। भारत के कुदिन तभी से आये जब से लोगों में ऐसी समझ का प्रचार हुआ। वेद के समय जब ब्राह्मण का यहाँ पूरा आधिपत्य रहा ऊपर लिखी हुई तीनों बातें उत्कृष्ट बोध, साधारण ज्ञान, सर्वोत्कृष्ट युक्ति, अच्छी तरह प्रचलित थीं; अब केवल समझ शेष रही।

शेष में अब हम यह कहा चाहते हैं कि युक्ति और उत्कृष्ट बोध दोनों की चेष्टा हमें करना चाहिए बिना बोध (फीलिंग) कोई साधारण कार्य भी नहीं सिद्ध हो सकता और बिना युक्ति के सत्य-विचार मन में नहीं आ सकता इसलिये अपनी उन्नति चाहने वाले को दोनों का मनो-वाक् कार्य से सदा सेवन करना चाहिये। परन्तु पहले युक्ति द्वारा सिद्ध कर लें कि यह काम उपकारी है तब अपनी अभिरुचि प्रकाश करें। धीरे-धीरे उस काम के करने में एक प्रकार का बोध पैदा हो जायगा तब उसके करने में उत्साह बढ़ेगा। इसी बोध के बढ़ने से स्वाधीनता प्रिय लूथर ने केथोलिकों के अत्याचार से समस्त यूरोप को बचा रक्खा और वाशिंगटन ने अमेरिका को स्वच्छन्द कर दिया।

यहाँ के लोग ऐसे बोध-शून्य हैं कि किसी निरपराधी दुखी बेचारे पर अत्याचार होते देख मुँह फेर लेते हैं। हम नहीं जानते ऐसों के जीवन का क्या फल जिनसे कुछ उपकार साधन न हुआ। वर्तमान् महा-दुर्भिक्ष में कितनों की बन पड़ी है जो कभी अन्न का रोजगार नहीं किये थे वे भी इस समय रोजगारी बन बैठे हैं। सरकार की ओर से बड़ी-बड़ी कोशिश पर भी कि अन्न सस्ता बिके उनके कारण नहीं बिकने पाता; इत्यादि बोध-शून्यता के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं जिसे विशेष पल्लवित करना केवल पिष्टपेषण-मात्र है।

अगस्त; १८९६

३— आत्मत्याग

आत्म-निर्भरता के समान आत्म त्याग भी देश के कल्याण का प्रधान अङ्ग है। हमारे देश में आत्मत्याग का बीज भी वैसा ही क्षीण हो गया है जैसा आत्म-निर्भरता का। अचरज है जहाँ के इतिहासों में दधीचि, शिवि, हरिश्चन्द्र, बलि, कर्ण इत्यादि महापुरुषों के अनेक उदाहरण से आत्म त्याग की कैसी उत्कर्षता दिखाई गई है; जिन महात्माओं ने दूसरों के लिये अपने अमूल्य जीवन का भी कुछ मोल न समझा वहाँ के लोग अब कहाँ तक स्वार्थपरायण पाये जाते हैं कि जिसकी हद्द नहीं है। बहुधा बेटा भी बाप के मुकाबिले तथा बाप बेटे के मुकाबिले किसी बात में जरा अपना नुकसान नहीं बरदाश्त किया चाहता। इस अंश में सीधे-सादे हमारे पुराने ढर्रे वाले फिर भी सराहना के लायक हैं जिनमें शील-संकोच से, कभी को धर्म के ख्याल से किसी न किसी रूप में आत्मत्याग की जड़ नहीं टूटी वरन् कुछ न कुछ इसकी वासना एक तरह पर फिसलती हुई चली आ रही है। नई तालीम तो आत्मत्याग के लिये मूलोच्छेदी कुठार हुई। हुआ चाहे जो इसके बानी-मुबानी हैं उनमें जब यहाँ तक स्वार्थपरता है कि स्वार्थ के पीछे अन्धे दया, सहानुभूति और न्याय को बहुत कम आदर दे हमारे नस-नस का रस निकाले लेते हैं तो उनकी दी हुई तालीम में आत्मत्याग का वह गुण कहाँ से आ सकता है जिसके उदय होने से अपनापन का नीचा ख्याल या तो जाता ही रहता है या वह इस हद्द को पहुँचता है कि जगत् भर उसे सब अपना ही दीखता है पराया उस को कोई रही नहीं जाता।

"उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्"

हम लोग जो इस समय सब भाँति क्षीण हो गये हैं इसलिये "क्षीणा नराः निष्करुणा भवन्ति" इस वाक्य के अनुसार हममें आत्मत्याग की

वासना बहुत कम हो गई है। किन्तु वहाँ और के मुकाबिले खुदगर्जी को अलबत्ता बेहद दखल है। आपस में आत्मत्याग और सहानुभूति ज्यों की त्यों कायम है। लंकाशायर वालों की बड़ी हानि के ख्याल से रुई के माल पर 'इम्पोर्ट ड्यूटी' का न लगना गवर्नमेन्ट की हाल की कार्रवाई इस बात की गवाही है। इस खुदगर्जी के लिये जो सरासर अन्याय और धर्मनीति के विरुद्ध है अँगरेजी गवर्नमेण्ट को दुनिया की और सल्तनतें नाम रखती हैं पर वहाँ "स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता" का सिद्धान्त रंग जमा रहा है।

हमारे यहाँ नई तालीम ने कुछ निराला ही रंग दिखलाया। जबान से कहो आत्मत्याग "सेल्फ-सेक्रिफाइस" दिन भर चिल्लाया करें काम पड़ने पर एक दूसरे के लिये छूरी तेज किये ताका करते हैं। पुराने क्रम वाले धर्म और ईश्वर के भय से बहुत से अनुचित कामों से अपने को बचाते हैं यहाँ सो भी नहीं है क्योंकि तालीम पाकर जो ईश्वर में श्रद्धा और धर्म की ओर झुकावट हुई तो समझना चाहिये उसे पूरी-पूरी तालीम नहीं दी गई। समाज के बन्धन से छुटकारा, स्वच्छन्दाचार बेरोक-टोक स्वच्छन्द आहार-विहार इत्यादि कई एक बातें नई तालीम के सूत्र हैं। आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज आदि भिन्न भिन्न समाजों में जो ये कपटी घुसा करते हैं और उन उन समाजों के बड़े पक्षपाती हैं सो इसीलिये कि ये समाज उनको आत्मसुखरत होने के लिये ढाल का काम दे रही हैं। यद्यपि इन समाजों के प्रवर्त्तक महा-पुरुष आत्मत्याग के नमूना हो गये हैं, उनका कभी यह प्रयोजन नहीं था कि केवल आत्मसुखेच्छा और समाज-बन्धन से छुटकारा पाने के लिये तथा यत्किञ्चित् बचे बचाये आत्मत्याग के उसूलों को तहस-नहस करने के लिये उनके समाज में लोग दाखिल हों। अस्तु, हमारे दिन अभी अच्छे नहीं हैं, दैव हमसे प्रतिकूल है; जो कुछ पाप हिन्दू जाति से बन पड़ा है और बराबर बनता जाता है जब तक उसका भरपूर मार्जन न हो लेगा तब तक जो कुछ उपाय भी इस बिगड़ी

कौम के बनाने का किया जायगा उसका उलटा ही फल होगा। जब कभी हमारे सुदिन आवेंगे आत्मत्याग, आत्मगौरव, आत्मनिर्भरता आदि श्रेष्ठ गुण फिर यहाँ आय बसेरा करने लगेंगे।

यह आत्मत्याग के अभाव का बाइस है जिससे हम अपने लोगों में किसी का विलायत जाना पसन्द नहीं करते। आत्मत्याग मन में जगह किये हो तो क्या सम्भव है कि हम वहाँ के आमोद-प्रमोद में फँस बिगड़ कर वहाँ से लौटें और वहाँ से आय अपने देशी भाइयों को जानवर समझ उनसे घिन करने लगें। सच तो यों है कि यदि आत्मत्याग के सिद्धान्त पर हम दृढ़ हों तो विलायत जाने की आवश्यकता ही क्या रहे?

"पथ्ये सति गदार्तस्य किमौषधि निषेवणैः।
पथ्येऽसति गदार्तस्य किमौषधि निषेवणैः" ॥

पथ्य से रहने वाले रोगी को दवा के सेवन से क्या? पथ्य से न रहने वाले रोगी को दवा से क्या? जो कौम हम पर इस समय हुकूमत कर रही है उससे हम किस बात में घटे हैं बुद्धि, विद्या, उद्यम, व्यवसाय, अध्यवसाय, सभ्यता, क्षमता क्या हम में नहीं है? बल्कि काम पड़ने पर हर एक बातों में सबक़त ले गये और उन्हें अपने नीचे कर लिया। एक आत्मत्याग की ऐसी भारी कसर लगी चली आ रही है कि जिससे हमारे यावत् अच्छे-अच्छे गुण सब फीके मालूम होते हैं। जैचन्द और पृथ्वीराज आपस में लड़ न जानिये किस कुसाइत से इसकी जड़ उखाड़ कर फेंक दिया कि यह बिरवा फिर यहाँ न पनपा। स्नेह, मैत्री, दया, वात्सल्य, श्रद्धा, अनुराग की पुण्यमयी प्रतिमा आत्मत्याग के पूजने वाले वे ही भाग्यवान् नर हैं जिन पर दयालु परमात्मा की कृपा है। भाग्यहीन भारत उस सौम्यमूर्ति के पूजन में रुचि और श्रद्धा न रख सब गुन आगर होकर भी दुःख सागर में डूबता हुआ निस्तार नहीं पाता। हमारे पूर्वजों ने चार वर्ण की प्रथा इसी आत्मत्याग के मूल पर चलाया था—

ब्राह्मण जो निर्लोभ हो कठिन से कठिन तपस्या और उत्कृष्ट विद्या के द्वारा प्रजा के कल्याण का सामर्थ्य प्राप्त करें। अब वे ही ब्राह्मण निपट स्वार्थ-लम्पट हो आत्मत्याग की गन्ध भी अपने में नहीं रखते और जैसा कदर्य और स्वार्थान्ध ये हो गये वैसा चार वर्ण में दूसरे नहीं। आत्मत्याग की वासना से दूसरे का उपकार सोचना कैसा? यही चाहते हैं कि प्रजा को मूर्ख किये रहें जिसमें इनके नेत्र न खुलने पावें नहीं तो हमारे दम्भ की सब कलई खुल जायगी? इसी तरह पहिले क्षत्रिय प्रजा की रक्षा के लिये शत्रु के सामने जा कूदते थे और युद्धक्षेत्र में अपना जीवन होम कर देते थे अब क्षत्रिय भी वैसे नहीं देखे जाते जिनमें आत्मत्याग की वासना बच रही हो। सारांश यह कि देश के कल्याण के लिये आत्मत्याग हमारे लिये वैसी ही आवश्यक है जैसी आत्मनिर्भरता। जातीयताभिमान या कौमियत का होना इन्हीं दोनों की युगल-जोड़ी के आधीन है, बिना जिनके हम और-और गुणों से भरे-पूरे होकर भी भीरु, कायर, क्रूर, कुचाली, अशक्त, असमर्थ आदि बदनामी की माला पहिने हैं, जब कि और-और लोग अनेक निन्दित आचरण के रहते भी सभ्यता की राह दिखलाने वाले हमारे गुरु बनते हैं, सो इसी युगल-जोड़ी के प्रताप से।

नवम्बर, १८९२

४-हृदय

हमारे अनुमान में उस परम नागर की चराचर सृष्टि में हृदय एक अद्भुत पदार्थ है देखने में तो इसमें तीन अक्षर हैं पर तीनो लोक और चौदहो भुवन इस तिहर्फी (अक्षर) शब्द के भीतर एक भुनगे की नाईं दबे पड़े हैं। अणु से लेकर पर्वत पर्य्यन्त छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा कोई काम क्यों न हो बिना हृदय लगाये वैसा ही पोच रहता है जैसा युगल-दन्त की शुभ्रोज्ज्वल खूटियों से शोभित श्याम मस्तक वाले मदश्रावी मातङ्ग को कच्चे सूत के धागे से बाँध रखने का प्रयत्न अथवा चंचल कुरङ्ग को पकड़ने के लिए भोले कछुए के बच्चे को उद्यत करना। आँख न हो मनुष्य हृदय से देख सक्ता है पर हृदय न होने से आँख बेकार है। कहावत भी तो है "क्या तुम्हारे हिये की भी फूटी है," हृदय से देखो, हृदय से बोलो; हृदय से पूछो, हृदय में रक्खो, हिए-जिये से काम करो; हृदय में कृपा बनाये रक्खो। किसी का हृदय मत दुखाओ। अमुक पुरुष का ऐसा नम्र हृदय है कि पराया दुख देख कोमल कमल की दण्डी-सा झुक जाता है। अमुक का इतना कठोर है कि कमठ पृष्ठ की कठोरता तक को मात करता है। कितनों का हृदय बज्राघात सहने को भी समर्थ होता है। कोई ऐसे भीरु होते हैं कि समर सन्मुख जाना तो दूर रहा कृपाण की चमक और गोले की धमक के मारे उनका हृदय सिकुड़ कर सोंठ की गिरह हो जाता है। किसी का हृदय रणक्षेत्र में अपूर्व विक्रम और अलौकिक युद्ध-कौशल दिखाने को उमगता है। एवं किसी का हृदय विपुल और किसी का संकीर्ण किसी का उदार और किसी का अनुदार होता है। विभव के समय यह समुद्र की लहर से भी चार हाथ अधिक उमड़ता है और विपद-काल में सिमट कर रबड़ की टिकिया रह जाता है। सतोगुण की प्रवृत्ति में राज-पाट

वियोग; ये सब सहकर उनका शुद्ध हृदय उस सौतेली माँ से पुनर्मिलन में समर्थ हुआ।"आज कल के ओछे पात्र माँ-बाप की तिरछी आँख की आँच न सहकर कह बैठते हैं कि हमारा तो उनकी तरफ से हिरदे फट गया।" प्रिय पाठक, श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज भी एक बड़े विशद और विशाल हृदय के मनुष्य थे, जिन्होंने लोगों की गाली-गलौज, निन्दा-चुगली आदि अनेक असह्य बातों को सह कर उनके प्रति उपकार से मुँह न मोड़ा। आज जिनका विपुल हृदय मानो निकल कर सत्यार्थ प्रकाश बन गया है। एक बार वहाँ के चन्द लोगों ने कहा कि वह नास्तिक मुँह देखने योग्य नहीं है। यह सुन कर कुछ भी उनकी मुखश्री मलिन न हुई और किसी भाँति माथे पर सिकुड़न न आई। गम्भीरता से उत्तर दिया कि यदि मेरा मुँह देखने में पाप लगता है तो मैं मुँह ढाँप लूँगा पर दो-दो बातें तो मेरी सुन लें। बस इसी से आप उनके बृहत् हृदय का परिचय कर सकते हैं। किसी ने सच कहा है:—

"सज्जनस्य हृदयंनवनीतं यद्वदन्ति कवयस्तदलीकम्।
अन्यदेहविलसत्परितापात्सज्जनो द्रवति नो नवनीतम्॥"

एक सहृदय कहता है कि कवियों ने जो सज्जनों के हृदय की उपमा मक्खन से दी है वह बात ठीक नहीं है। क्योंकि सत् पुरुष पराया दुःख देख पिघल जाते हैं और मक्खन वैसा ही बना रहता है। बस प्यारो, यदि तुम सहृदय होना चाहते हो तो ऐसे उदार हृदयों का अनुकरण करो, ऐसे ही हृदय दूसरों के हृदयों में क्षमा, दया, शान्ति, तितिक्षा, शील, सौजन्यता, सच्ची आस्तिकता और उदारता का बीजारोपण करने में योग्य होते हैं और सच्चे सुहृद कहाते हैं।

(भारत सुदशाप्रवर्त्तक से)
अक्तूबर, १८८७

५--मन और प्राण

मनुष्य के शरीर में ये दोनों बड़े काम के हैं। ये हमने क्या कभी मनुष्य के शरीर में हैं? और हैं तो कहाँ पर हैं? आप कहेंगे यह प्राण वायु गिनती में पाँच हैं और संपूर्ण शरीर भर में व्याप्त है।

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभि मण्डले।
उदानः कण्ठ देशस्थो व्यानः सर्व शरीरगः॥

हृदय में प्राण वायु है, गुदा मार्ग से जो हवा निकलती है उसका नाम अपान है, समान नामक वायु का स्थान नाभि मण्डल है कण्ठ देश में जो वायु है जिस से डकार होती है वह उदान वायु है और व्यान नामक वायु है सो संपूर्ण शरीर में व्याप्त रह रक्त संचालन करता है। अस्तु, प्राण की व्यवस्था तो हो चुकी अब बतलाइये आप का मन कहाँ है हृदय में या मस्तिष्क में या सर्वेन्द्रिय में फैला हुआ होकर जुदी-जुदी इन्द्रियों के जुदे-जुदे कामों का ज्ञान मन स्वयं अनुभव करता है। लोग कहते हैं जो कोई किसी का प्राण ले उसके बदले में जब तक उसका प्राण भी न लिया जाय तब तक बदला नहीं चुकता किन्तु मन जब कोई किसी का ले लेता है वह उसी का हो जाता है। ईश्वर न करे हमारा मन किसी पर आ जाय तब हम को उसका दास बन जाना पड़ेगा। न विश्वास हो किसी नवयुवा, नवयुवती से पूछ लो जिसका मन बहुत जल्द छिन जाता है। संसार में यही एक ऐसी वस्तु है कि हर जाने पर फिर नहीं लौटायी जा सकती है। सच पूछिये तो कवियों को, प्रणयिनी-प्रणयी यही दोनों के आपस में मन हर लेने के किस्सों का, कविता के लिये बड़ा सहारा है। भवभूति के 'मालतीमाधव में', कोकिल-कण्ठ जयदेव के 'गीतगोविन्द' में, महाकवि श्रीहर्ष के 'नैषध' में, सम्पूर्ण ग्रन्थ भर में यही है और अनेक अनूठी उक्ति, युक्ति की नई-नई छटायें

दी गई हैं, सिवाय इसके लैला-मजनूँ और यूसुफ-जुलेखा के किस्सों की भी यही बुनियाद है। नाटकों में ऐसा तो आता है मन पर प्रणयिनी या प्रणयी की वियोग-जनित यातना प्राण ही को भोगना पड़ता है। 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में पुरूरवा का मन उर्वशी से छिन जाने पर पुरूरवा को जो-जो यातना भोगनी पड़ी केवल उतना ही उस नाटक का एकमात्र विषय है। किसी कवि ने किसी नायिका के अंग की कोमलता के वर्णन में क्या ही अनूठी उक्ति युक्ति का यह श्लोक दिया है—

"तव विरहविधुरबाला सद्यः प्राणान्विमुक्तवती।
दुर्लभमीदृगङ्गं मत्वा न ते तामजहुः" ॥

किसी विरहिणी का दूत कोई उसके नायक से कहता है—उस बाला ने तुम्हारे वियोग में विधुरा हो तत्काल प्राण त्याग कर दिया; किन्तु ऐसे कोमल अंग अपने रहने के लिये अब और कहाँ मिलने वाले हैं यह समझ प्राणों ने उसे न छोड़ा। और भी:—

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः"
अलमलमालि मृणालैरिति रूदति दिवानिशं बाला ॥
किंकरोमि क्व गच्छामि रामो नास्ति महीतले।
कान्ता विरहजं दुःखमेको जानाति राघवः ॥

मन और प्राण दोनों एक वस्तु हैं कि दो और ये दोनों क्या वस्तु हैं और कैसे इन दोनों की आप विवेचना करेंगे? यह रोशनी है—हवा है विद्युत शक्ति है—या कोई दूसरी वस्तु है। दोनों मिल के काम करते हैं कि अलग-अलग? जो मिल के काम करते हैं तो जब प्राण निकल जाता है तब मन कहाँ रहता है? प्राण के आधीन मन है कि मन के आधीन प्राण? जिसमें प्राण रहता है उसे प्राणी कहते हैं जिसमें मन है वह मनई है। वह क्या है जिसके आधीन ये दोनों हैं अर्थात् जो यह कह रहा है हम बड़े हैं, हम छोटे हैं, हमारा प्राण निकल गया, हमारा मन हर गया, हमारा मन नहीं चाहता, मन नहीं लगता, यह

सब कहने वाला कोई तीसरा व्यक्ति है या इन्हीं दोनों का मेल है, और ये दोनों घटते-बढ़ते हैं या जैसे के तैसे बने रहते हैं? सुना है योगी-जन प्राण ब्रह्माण्ड में चढ़ा वर्षों तक उसे अलग रख लेते हैं। हिन्दू-मुसलमान तथा अंगरेजों में ऐसे विद्वान् हुये हैं जिन्होंने मन की बड़ी-बड़ी ताकतें प्रगट की हैं—मिसमेरेजिम इत्यादि। थियोसोफिस्ट लोगों के लिये मन बड़ी भारी चीज है जिसके सम्बन्ध में वे लोग अब तक नई-नई बातें निकालते आते हैं। मुसलमानों में शैतान-ज़मीर किसे कहते हैं? योग-शास्त्र में जैसा इसका विस्तार है, उसका वर्णन करने लगें तो न जानिये कै बड़े-बड़े ग्रन्थ इसके बारे में लिखे जा सकते हैं। हमारे प्राचीन आर्यों ने मन के सम्बन्ध में जहाँ तक तलाश किया है वैसा अब तक किसी कौम के लोगों ने नहीं किया।

मनः कृतं कृतं लोके न शरीरकृतं कृतम्।
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः॥

जो कुछ काम हम करते हैं वह मन का किया होता है। हाथ-पाँव से हम काम करते हैं यहाँ पर मनोयोग जब तक उस काम पर न हो तब तक वह काम काम न समझा जायगा। बन्धन में पड़ जाने का या बन्धन से मुक्त होने का हेतु केवल मन है। योग-वाशिष्ठ और भगवद्गीता में मन के सम्बन्ध में अनेक बातें लिखी हैं पर प्राण-मिश्रित मन के बारे में जो हमारे अनेक तर्क-वितर्क हैं, उनका उत्तर कहीं से नहीं मिलता और यह पहेली बिना हल हुये वैसी की वैसी रही जाती है।

अगस्त, १८६७

६—दृढ़ और पवित्र मन

मन की तुलना मुकुर के साथ दी जाती है जो बहुत ही उपयुक्त है। मुकुर में तुम्हारा मुख साफ तभी देख पड़ेगा जब दर्पण निर्मल है। वैसा ही मन भी जब किसी तरह के विकार से रहित और निर्मल है तभी मनन जो उसका व्यापार है भलीभाँति बन पड़ता है। तनिक भी बाहर की चिन्ता या कपट तथा कुटिलाई की मैल मन पर संक्रामित रहे तो उसके दो भिन्न हो जाने से सूक्ष्म विचारों की स्फूर्ति चली जाती है। इसी से पहिले के लोग मन पवित्र रखने को बन में जा बसते थे; प्रातःकाल और साँझ को कहीं एकान्त स्थल में स्वच्छ जलाशय के समीप बैठ मन को एकाग्र करने का अभ्यास डालते थे मन की तारीफ में यजुर्वेद संहिता की ३४ अध्याय में ५ ऋचायें हैं जो ऐसे ही मन के सम्बन्ध में हैं जो अकलुषित, स्वच्छ और पवित्र हैं। जल की स्वच्छता के बारे में एक जगह कहा भी है "स्वच्छं सज्जनचित्तवत्" यह पानी ऐसा स्वच्छ है जैसा सज्जन का मन। अस्तु, उन ५ ऋचाओं में दो एक को हम यहाँ अनुवाद सहित उद्धृत कर अपने पढ़ने वालों को यह दिखाया चाहते हैं कि वैदिक समय के ऋषि-मुनि मन की फिलॉसफी को कहाँ तक परिष्कृत किये थे।

"यस्मिन्नृचः सामयजूंषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु"॥

रथ की पहिया में जैसे आरा सन्निविष्ट रहते हैं वैसे ही ऋग् यजु साम के शब्द-समूह मन में सन्निविष्ट हैं। पट में तन्तु समूह जैसे ओत-

प्रोत रहते हैं वैसे ही सब पदार्थों का ज्ञान मन में ओत-प्रोत है। अर्थात् मन जब अकलुषित और स्वस्थ है तभी विविध ज्ञान उसमें उत्पन्न होते हैं; व्यग्र हो जाने पर नहीं। जैसे चतुर सारथी घोड़ों को अपने आधीन रखता है और लगाम के द्वारा उनको अच्छे रास्ते पर ले चलता है वैसे ही मन हमें चलाता है। तात्पर्य यह कि मन देह-रथ का सारथी है और इन्द्रियाँ घोड़े हैं—चतुर सारथी हुआ तो घोड़े जब कुपन्थ पर जाने लगते हैं तब लगाम कड़ी कर उन्हें रोक लेता है। जब देखता है रास्ता साफ है तो बागडोर ढीली कर देता है, वैसा ही मन करता है। जिन मन की स्थिति अन्तःकरण में है जो कभी बुढ़ाता नहीं जो अत्यन्त वेग गामी है वह मेरा मन शान्त व्यापार वाला हो—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरं गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

चक्षु आदि इन्द्रियाँ इतनी दूर नहीं जातीं जितना जागते हुये का मन दूर से दूर जाता है और लौट भी आता है, जो देव अर्थात् दिव्य ज्ञान वाला है, आध्यात्मिक सम्बन्धी सूक्ष्म विचार जिस मन में आसानी से आ सकते हैं, प्रगाढ़ निद्रा का सुषुप्ति अवस्था में जिसका सर्वथा नाश हो जाता है, जागते ही जो तत्क्षण फिर जी उठता है; वह मेरा मन शिव संकल्प वाला हो अर्थात् सदा उसमें धर्म ही स्थान पावे, पाप मन से दूर रहे।

मन के बराबर चंचल संसार में कुछ नहीं है। पतञ्जलि महामुनि ने उसी चंचलता को रोक मन के एकाग्र रखने को योग दर्शन निकाला। यूरोप वाले हमारी और-और विद्याओं को तो खींच ले गये पर इस योग-दर्शन और फलित ज्योतिष पर उनकी दृष्टि नहीं गई सो कदाचित् इसीलिये कि ये दोनों आधुनिक सभ्यता के साथ जोड़ नहीं खाते। इस तरह के निर्मल मन वाले सदा पूजनीय हैं। जिन के मन में किसी

तरह का कल्मष नहीं है; द्रोह, ईर्षा, मत्सर, आलस्य तथा काम-वासना से मुक्त जिनका मन है उन्हीं को जीवन्मुक्त कहेंगे।

बुद्ध और ईसा आदि महात्मा दत्तात्रेय और याज्ञवल्क्य आदि योगी जो यहाँ तक पूजनीय हुये कि अवतार मान लिये गये उनमें जो कुछ महत्व था सो इसी का कि वे मन को अपने वश में किये थे। जो मन के पवित्र और दृढ़ हैं वे क्या नहीं कर सकते। संकल्प सिद्धि इसी मन की दृढ़ता का फल है। शत्रु ने चारों ओर से आके घेर लिया; लड़ने वाले फौज के सिपाहियों के हाथ-पाँव फूल गये, भाग के भी नहीं बच सकते, सबों की हिम्मत छूट गई, सब एक स्वर से चिल्ला रहे हैं, हार मान अब 'ईवड' शत्रु के सिपुर्द अपने को कर देने ही से कल्याण है; कैदी हो जायँगे बला से, जान तो बची रहेगी। पर सेनाध्यक्ष 'कमांडर' अपने संकल्प का दृढ़ है सिपाहियों के रोने-गाने और कहने-सुनने में विचलित नहीं होता; कायरों को सूरमा बनाता हुआ रण-भूमि में आ उतरा; तोप के गोलों का आघात सहता हुआ शत्रु की सेना पर जा टूटा; द्वन्द्व-युद्ध कर अन्त को विजयी होता है। ऐसा ही योगी को जब उसका योग सिद्ध होने पर आता है तो विघ्न-कल, जिन्हें आभियोग कहते हैं, होने लगते हैं इन्द्रियों को चलायमान करने वाले यावत् प्रलोभन सब उसे आ घेरते हैं। उन प्रलोभनों में फँस गया तो योग से भ्रष्ट हो गया। अनेक प्रलोभन पर भी चलायमान न हुआ दृढ़ बना रहा तो अणिमा आदि आठों सिद्धियाँ उसकी गुलाम बन जाती हैं, योगी सिद्ध हो जाता है। ऐसा ही विद्यार्थी जो मन और चरित्र का पवित्र है दृढ़ता के साथ पढ़ने में लगा रहता है पर बुद्धि का तीक्ष्ण नहीं है; बार-बार फेल होता है तो भी ऊब कर अध्ययन से मुँह नहीं मोड़ता; अन्त को कृतकार्य हो संसार में नाम पाता है। बड़ी से बड़ी कठिनाई में पड़ा हुआ मन का पवित्र और दृढ़ है तो उसकी मुश्किल आसान होते देर नहीं लगती। आदमी में मन की पवित्रता छिपाये नहीं छिपती न कुटिल और कलुषित मन वाला छिप सकता है।

ऐसा मनुष्य जितना ही ऊपरी दाँव-पेच अपनी कुटिलाई छिपाने को करता है उतना ही बुद्धिमान् लोग जो ताड़बाज़ हैं ताड़ लेते हैं। कहावत है "मन से मन को राहत है" "मन मन को पहचान लेता है"। पहली कहावत के यह माने समझे जाते हैं कि जो तुम्हारे मन में मैल नहीं है वरन् तुम बड़े सीधे और सरल चित्त हो तो दूसरा जैसा ही कुटिल और कपटी है तुम्हारा और उसका किसी एक खास बात में संयोग-वश साथ हो गया तो तुम्हारे मन को राहत न पहुँचेगी। जब तक तुम्हारा ही-सा एक दूसरा पक्ष तुम्हें निश्चय न करा दे कि इसका विश्वास करो हम इसके निश्चई होते हैं। दूसरी कहावत के मतलब हुये कि हम से कुटिल चालबाज को हमारे ही समान कपटी चालाक का साथ होने से पूरा जोड़ बैठ जाता है।

मस्तिष्क, मन, चित्त, हृदय, अन्तःकरण, बुद्धि ये सब मन के पर्याय शब्द हैं। दार्शनिकों ने बहुत ही थोड़ा अन्तर इनके जुदे-जुदे 'फंक्शन्स' कामों में माना है—अस्तु हमारे जन्म की सफलता इसी में है कि हमारा मन सद् नक़टा और कुटिलाई छोड़ सरल-वृत्ति धारण कर; भगवच्चरणारविन्द के रसपान का लोलुप मधुप बन; अपने असार जीवन को इस संसार में सारवान् बनावे; और तत्सेवानुरक्त महज्जनों की चरण-रज को सदा अपने माथे पर चढ़ाता हुआ ऐहिक तथा आमुष्मिक अनन्त सुख का भोक्ता हो; जो निश्चितमेव नाल्पस्य तपसः फलम् है। अन्त को फिर भी हम एक बार अपने वाचक वृन्दों को चिताते हैं कि जो तभी होगा जब चित्त मतवाला हाथी-सा संयम के खूटे में जकड़ कर बाँधा जाय। अच्छा कहा है—

अप्यस्ति कश्चिल्लोकेऽस्मिन्येनचित्त मदद्विपः।
नीतः प्रशमशीलेन संयमालानलीनताम्॥

मई १९०९

७—सम्भाषण

ईश्वर की विचित्र सृष्टि में संभाषण शक्ति केवल मनुष्यों ही को दी गई है। यदि यह शक्ति मनुष्य में न होती तो भेड़-बकरी आदि चौपायों जानवर और आदमी में फिर क्या अन्तर रहता क्योंकि मनुष्य और पशुओं की ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति में बड़ा अन्तर न होने पर भी मनुष्य जो पशुओं की सृष्टि से इतना विशिष्ट है कि वह उन पर अपना अधिकार और स्वामित्व जमाये हुये है सो इसी कारण कि जानवर बेचारों को यह शक्ति प्राप्त नहीं है कि मनुष्य की-सी सुव्यक्त और सुस्पष्ट बोल-चाल के द्वारा अपनी मनोगत बातें दूसरे समीपस्थ जीव से प्रगट कर सकें। दो प्रेमियों में परस्पर प्रेम का अंकुर जमाने की पूर्व पीठिका या उपोद्घात पहले संभाषण ही होता है। जिन्होंने कादंबरी कभी पढ़ा है वे जान सकते हैं कि पुण्डरीक और महाश्वेता की कहानी इसका कहाँ तक उपयुक्त उदाहरण है जहाँ उन दो प्रेमियों में प्रथम-प्रथम अखण्ड और सच्चे प्रेम की प्रस्तावना केवल दो-चार बात के संलाप ही से आरंभ हुई है।

संसार के ऐसे कोई भी विषय नहीं हैं जिनके अधिक उपभोग से अन्त को ऊब न पैदा हो किन्तु एक प्रेमियों के प्रेमालाप ही में वह शक्ति है कि परस्पर प्रेमासक्त 'लवर्स' के प्रेम-प्रकाशक संलाप में ऊब या उचाट 'मोनोटोनी' अपना दखल नहीं कर सकती; २४ घंटे का दिन और रात जिनकी प्रेम-कहानी को काना फुस्की के लिये बहुत कम है। भवभूति महाकवि ने उत्तर राम-चरित्र में दो प्रेमासक्त के प्रेम संलाप का बहुत ही मनोहर और प्राकृतिक चित्र उतारा है—

"किमपि-किमपि मन्द मन्दमासत्तियोगा दविरलित कपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिल परिरंभ व्यापृतैकैक दोष्णोर विदित गत यामा रात्रि रेवं व्यरंसीत्॥"

छोटे-छोटे क्लब कमेटी और कांग्रेस को कौन गिनने बैठे बिलाइत की पार्लियामेंट महासभा जिस पर ब्रिटिश राज्य का कुल दार-मदार है सफेद डाढ़ी वाले बड़े-बड़े राज-मंत्रियों के संभाषण ही का निचोड़ है। सुलह या जंग देश का अभ्युत्थान या पतन प्रीवी कौंसिल में बड़े-बड़े मुकद्दमों का वारा-न्यारा सब सम्भाषण ही का परिणाम है। सम्भाषण का कुछ अद्भुत क्रम है इसके द्वारा बनती हुई बात को न बिगड़ते देर न बिगड़ी बात के बनने ही में विलम्ब।

किसी पंचाइत में कोई बड़े भारी मामिले का जिकिर पेश है चिरकाल का विरोध बात की बात में तै पाता है पंचाइत में शरीक लोगों के जी में बरसों की जमी हुई मैल एक दम में धुल कर साफ हुआ चाहती है इतने में कोई अकिल के कोते कुन्दे नातराश आ टूट पड़े और दो एक ऐसी वेतुक ओखी-चोखी अरुन्तुद मर्म की बात बोल उठे कि एक-एक आदमी का जी दुख गया। पंचाइत उठ गई बनने की कौन कहे जन्म भर के लिये ऐसी गाँठ पड़ी कि सुरझाना कठिन हो गया। हिन्दुस्तान के बल पौरुष श्री कीर्ति सब का अन्तकारी महाभारत का घोर संग्राम केवल द्रौपदी के कटु भाषण ही के कारण हुआ; मारीच मृग के उपक्रम में यदि जानकी लक्ष्मण का अपने अरुन्तुद वाक्यों से मर्मताड़न न करतीं तो सीता-हरण-सा अनर्थ कभी न होता; इत्यादि अनेक ऐसे उदाहरण कटु भाषण के इतिहासों में पाये जाते हैं जिनका परिणाम अन्त को मूलच्छेदी ठाकुर से भी अधिक तीखा देखने में आया है। जो मनुष्य जिनमें क्रोध की आग परस्पर सुलग रही है तृण अग्नि के संयोग समान दोनों के संभाषण-मात्र की कसर उस आग के भभक उठने के लिए रह जाती है उस समय चतुर सयानों का यही काम रहता है कि दोनों की चार आँख होने से उन्हें बचाये रहें और अपना काम भी साध लें "क्यों साँप मरै क्यों लाठी टूटै"—अब मृदु भाषण के गुणों को लीजिये जिनके एक-एक बोल में मानों फूल झरता है कोकिला लाप का सहोदर

जिनका मृदु और कोमल भाषण सुनने वालों को करण रसायन हो परस्पर दोनों में मैत्री का दृढ़ संबन्ध स्थापित कर देता है ऐसों ही के साथ सम्भाषण से मैत्री का नाम सामपदीन कहा गया है—

"यतः सतां सन्नत गात्रि संगतं मनोषिभिः साम पदीन मुच्यते"।

तात्पर्य यह कि जिन्हें बोलने का शऊर है उनके साथ सात लब्ज की बोल चाल दृढ़ मैत्री संबन्ध स्थिर होने के लिए बहुत है। सहज में दूसरे का मन अपने मूठों में कर लेना वही अच्छी तरह जानते हैं जिन्हें बोलने आता है। सब कुछ पढ़-लिख भी जिसने बोलना न सीखा उसका पढ़ना-लिखना जन्म-पर्यन्त फीका रहता है। हमारी बात अत्युक्ति न समझी जाय तो हम यह भी कह सकते हैं कि जिन्हें बोलने का ढंग है उनकी सुधास्पर्द्धी बोल-चाल से हार मान सुधा जाकर सुरलोक में छिप रही है।

एक संभाषण खलों का है जिनका बोल सुनते ही कलेजा फट जाता है जिनके मुख कन्दरा से कभी किसी के लिये शुभ बात निकलते किसी ने सुना ही नहीं—

"अहमेव गुरुः सुदारुणानामिति हालाहल मास्म तात दृप्यः।
ननु सन्ति भवा दृशानि भूयो भुवने स्मिन् वचनानि दुर्जनानाम्॥

खलों के बचन से खिन्न हो कोई कवि हालाहल महा-विष को सम्बोधन कर कहता है—'हे हालाहल यह मत समझो कि हम संसार में जितने निर्दयी प्राण घातक हैं सबों के गुरू हैं निठुराई में हमसे बढ़ कोई दूई नहीं क्योंकि तुम्हारे समान खलों के अनेक निर्दयी बचन विद्यमान हैं।"

एक संभाषण चंडू बाजों की गप-शप है जिसके कभी कुछ माने हो ही नहीं सकते। पाठक महाशय, सम्भाषण बहुत तरह पर होता है पुराने लोग जिनको सहस्रों वर्ष बीते संसार से कभी को सिधार गये किन्तु उनके मस्तिष्क की नई-नई उत्तम कल्पनायें जो मुद्रायंत्र

अथवा लिखावटों के द्वारा अब तक पाई जाती हैं उन्हें पढ़ यही बोध होता है मानो हम उनसे प्रत्यक्ष सम्भाषण कर रहे हैं। चिट्ठी-पत्री आधी मुलाकात समझी जाती है और अब तो इस अँगरेजी राज्य में टेलीग्राफ, टेलीफोन आदि कितने नये तरीके मुलाकात के ऐसे ईजाद हुए हैं जिनके द्वारा हम घर बैठे हजार कोस की दूरी पर जो लोग हैं उनसे प्रत्यक्ष के समान बातचीत कर सकते हैं। ग्राहक गण सम्भाषण के इसी क्रम पर आरूढ़ हो मास में एकबार हम भी दाल-भात में मूसलचन्द से आप से संभाषण के लिये आ कूदते हैं और नित्य नैमित्तक कार्य में विघ्न डाल थोड़ी देर के लिये आपको फँसा रखते हैं उसी की माफी के लिये आज हमने सम्भाषण के जुदे-जुदे तरीके गिनाये हैं जहाँ २४ घंटे खाना, पीना, सोना आदि अपने काम करते हो तहाँ एक छिन हमारे साथ भी गपशप सही।

मई १८८४

८—मनुष्य के जीवन की सार्थकता।

हमारे जीवन की सार्थकता क्या है और कैसे होती है इस पर जुदे-जुदे लोगों के जुदे-जुदे विचार और उद्देश्य हैं, अधिकतर इसका उद्देश्य समाज पर निर्भर है अर्थात् हम जिस समाज में जैसे लोगों के बीच रहते हैं उनके साथ जैसा बर्ताव रखते हैं उसी के अनुसार हमारे जीवन की सार्थकता समझी जाती है। यद्यपि कवियों ने मनुष्य जन्म की सार्थकता को अपनी-अपनी उक्ति के अनुसार कुछ और ढङ्ग से ढुलका आये हैं जैसे भारवि ने कहा है:—

> स पुमानर्थवज्जन्मा यस्य नाम्नि पुरस्थिते।
> नान्याङ्गुलि समभ्येति संख्यायां मुद्यताङ्गुलिः।

पुमान् पुरुष वह है जिसमें पुरुषार्थ का अंकुर हो; सार्थक जन्म वही पुरुष है कि जिसके पौरुषेय गुणों की गणना में जो अंगुली उसके नाम पर उठे वही फिर दूसरे के नाम पर नहीं—अर्थात् जो किसी प्रकार के गुण में एकता प्राप्त किये हैं संसार में उसके बराबरी का दूसरा मनुष्य न हो। इस तरह की बहुतेरी कवियों की कल्पनायें पाई जाती हैं किन्तु यहाँ इन कल्पनाओं से हमारा प्रयोजन नहीं है जिसे हम जीवन की सार्थकता कहेंगे वह बात ही निराली है। समाज के बर्ताव के अनुसार सफल जीवन इसे अलयत्ता कहेंगे जैसा—

> यस्य वानर्जितं मित्रं शत्रवो युधि निर्जिताः।
> अन्नपानर्जिता दारा सफलं तस्य जीवितम्॥

जिसने समय-समय धन दे मित्रों को अपने काबू में कर लिया; जिसने शत्रुओं को संग्राम में जीता; भाँति-भाँति के गहने और कपड़ों से जिसने अपनी स्त्री का सन्तोष किया उसी का जीवन सफल है। बस यही सफल

जीवन की इयत्ता या ओर-छोर है, तात्पर्य यह कि जिसने स्वार्थ-साधन को भरपूर समझा वही यहाँ सफल जन्मा है। विलाइत में जब तक अपने देश या जाति के लिये कोई ऐसी बात न कर गुजरा जिसमें सर्व साधारण का कुछ उपकार है तब तक जीवन की सफलता नहीं कही जा सकती क्योंकि इतना तो जानवर भी कर लेते हैं—अपने बच्चों को पालना-पोषना वे भी भरपूर जानते हैं; जो उनके शत्रु हैं उनसे लड़ना; जो उसके साथ भलाई करते हैं उन्हें उपकार पहुँचाने का ज्ञान उन्हें भी रहता है, वरन कुत्ते और घोड़े आदि कई एक पशुओं में कृतज्ञता और स्वामि-भक्ति मनुष्यों से भी अधिक पाई जाती है तब मनुष्य और जानवर में क्या अन्तर रहा।

इससे निश्चय होता है कि जन्म की सफलता का ज्ञान केवल समाज पर निर्भर है जिस काम को या जिस बात को समाज के लोग पसन्द करते हों और भला समझते हों उस ओर हमारी प्रवृत्ति का होना ही जीवन की सफलता है। जैसा इस गुलामी की हालत में पढ़-लिख सौ-पचास की नौकरी पाय अपनी जिन्दगी दूसरे के आधीन कर देना ही जन्म की सफलता है। सच है—

"सेवाविक्रीतकायानां स्वेच्छाविहरणं कुतः?"

जिन्होंने दूसरे की सेवा में अपने को दूसरे के हाथ बेच डाला है उनकी फिर आजादगी कहां? सैकड़ों वर्ष से गुलामी में रहते पुश्तहा-पुश्त बीत गये स्वच्छन्दता या आजादगी की कदर हमारे मर्म से उठी गई। इस हीरे की परख के जौहरी इंगलैंड तथा यूरोप और अमेरिका के देशों में पैदा होने लगे या अब इस समय जापान को इसकी क़दर का ज्ञान होने लगा है हमारे यहां तो न जानिये वह कौन सा ज़माना था जब मनु महाराज लिख गये कि

"सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्॥"

सब कुछ जो अपने वश का है सुख है जो दूसरे के आधीन है वही दुःख है सुख-दुःख का सर्वोत्तम लक्षण यही निश्चय किया गया है।

सो अब इस समय दस-बीस की नौकरी भी ऐसी सोने की खेती हो रही है कि हमारे नव-युवक इसके लिये तरस रहे हैं बड़े से बड़ा इम्तिहान पास कर अर्जी हाथ में लिये बगलें मारे फिरते हैं और दुरदुराये जाते हैं। उसमें भी वर्तमान समय के कर्मचारियों की कुछ ऐसी पालिसी हो रही है कि सौ रुपये से जियादह की नौकरी नेटियों को न दी जाय—सेवा-विक्रीत काया इस नौकरी में भी वह समय अब दूर गया जब दो एक जुमले अंगरेजी के लिखने और बोल लेने ही मात्र से सैकड़ों रुपये महीने की नौकरी सुलभ थी। सच है—

गतः स कालो यत्रास्ते मुक्तानां जन्म शुक्तिषु।
उदुम्बरफलेनापि स्पृहयामोऽधुना वयम्॥

आजादगी के अनन्य भक्त कोई-कोई नव-युवक स्वच्छन्द जीवन (इंडिपेन्डेन्ट) की धुन बाँधे हुये कोई आजाद पेशा किया चाहते हैं तो पास पूँजी नहीं कि हौसिले के माफिक कुछ कर दिखावें। कंपनी अथवा प्रएसन्वसीएँ भी चाल अपने यहाँ न ठहरी कि उन्हें कहीं से सहारा मिलता। हमारा ऐसा सर्वस्व-हरण होता जाता है कि न तो धन रहा न कोई जीविका बच रही कि ये लोग अपना हौसिला पूरा करते। जिनके पास रुपया है वे रुपयों के सूद के घाटे का परता पहले फैला लेंगे तो टैटा छोता करेंगे। यों चाहे रुपया रक्खा रह जाय एक पैसा व्याज न आवे पर रुपया कहीं लगाने के समय व्याज का परता जरूर फैला लेंगे। जिन बेचारों ने हिम्मत बाँध कुछ रुपया कहने सुनने से लगाया भी तो पीछे उन्होंने ऐसा धक्का खाया कि चित्त हो गये। उन्हें कोई ऐसा दियानतदार आदमी न मिला कि उनका उत्साह बढ़ता और मिल कर हम कोई काम करना नहीं जानते यह कलंक हम से दूर हटता। माँ होती तो मौसी को कौन पूछता, हम मिलना जानते होते तो वर्तमान दास्यभाव की दशा को क्यों पहुँचते। अस्तु,—

इस जीवन के सफलता के अनेक और दूसरे-दूसरे उदाहरण हैं।

संसार को मिथ्या मानने वाले अहंब्रह्मास्मि की धुन बाँधे हुये स्वभाव-वादी जीवन की सफलता इसी में मानते हैं कि हमें यह बोध हो जाय कि हमीं ब्रह्म हैं और इस जगत् के सब काम आपसे आप होते जाते हैं कोई इसका प्रेरक नहीं है। पाप और पुण्य भला और बुरा दोनों एक-से हैं— चित्त में ऐसा पूरा-पूरा भास हो जाय तो बस हम जीवन मुक्त हो गये। अब हमें कुछ करना-धरना न रहा। सब ओर से अकर्मण्य हो बैठे और आगे बढ़ो तो मन को नाश कर डालो, क्योंकि सब उत्साह और आगे की तरक्की करने का मूल कारण मन में न रहेगा तो बुराई का काम चाहे न भी रुके पर भलाई तो तुम से कभी हो होगी नहीं और यह सब भी तभी तक जब तक अपनी जरा भी किसी तरह को हानि नहीं है बस केवल जबानी जमाखर्च मात्र रहे आत्म-त्याग के उसूल कहीं छू भी न जाँय कसौटी के समय चट्ट फिसल कर चारो खाने चित्त गिर पड़ा करो—ऐसा ही सेवक भक्त अपने प्रभु की सेवा में लीन होना ही जीवन की सफलता मानता है। स्मरण, कीर्तन, वन्दन, पादसेवन, सख्य, आत्मनिवेदन आदि नवधा भक्ति के द्वारा जो अपने सेव्य प्रभु में लीन हो गया वास्तव में उसका जीवन सफल है। इस उत्तम कोटि के महात्मा अब इस समय बहुत कम जनाते हैं। अहं ब्रह्मास्मि कहने वाले धूर्त वंचकों से तो यही भले। यद्यपि जिस बात की पुकार हमें है सो तो इस दासोस्मि में भी नहीं पाई जाती फिर भी प्रेम और दृश्य-जगत् सर्वथा निस्सार नहीं है न सर्वनाशकारी अकर्मण्यता ही का दखल इनमें है इससे ये बहुत अंशों में सर्वथा सराहनीय हैं। चतुर सयाने चलते-पुरजे चालाक कहीं पर हों अपनी चालाकी से न चूकने ही को जन्म का साफल्य मानते हैं। किसी कवि ने ऐसों ही का चित्र नीचे के श्लोक में बहुत अच्छा उतारा है—

आद्यो भागः पंचभाण्डस्य देयाः द्वौ विद्यायाः द्वौ मृषाभाषणस्य।
एकं भागं भक्षिमायाः प्रदेयं पृथ्वी यस्यामेवयोगः करोति॥

पहला ५ हिस्सा धूर्तता का हो तब दो विद्या का दो झूठ बोलने

का और एक हिस्सा भड़ौआ का भी होना ही चाहिये जिनमें ये सब मिला के दस हिस्से हुनर के हैं वे इन सबों के योग से पृथ्वी भर को अपने काबू में ला सकते हैं। संसार में इन्हीं का नाम चलता पुरजा है हम ऐसे गोबर गनेस बोदे लोगों का किया क्या हो सकता है जो निरे अपटु दस-पाँच आदमियों को भी अपनी मूठा में नहीं ला सकते। इसी से हम पहले अंश में लिख आये हैं कि हाँ हम ऐसे हतास क्यों जन्मे? प्रयोजन यह कि जिसने झूठ-सच बोल दूसरों को धोखा दे रुपया कमाना अच्छी तरह सीखा है, वही सफल-जन्मा है।

सभ्य समाज के मुखिया हमारे बाबू लोगों में सफल जीवन का सूत्र साहब बनना है जब तक कहीं पर किसी अंश में भी हम हिन्दुस्तानी हैं इसकी याद बनी रहेगी, तब तक उनके सफल जीवन की त्रुटि दूर होने वाली नहीं। इससे वे सब-सब स्वांग लाते हैं क्या करें लाचार हैं अपना चमड़ा गोरा नहीं कर सकते। अस्तु, ये कई एक नमूने सफल जीवन के दिखाये इन सबों में सफल जीवन किसी का भी नहीं है वरन् सफल जीवन उसी पुरुष श्रेष्ठ का कहा जायगा जिसने अपने देश तथा अपने देश बान्धव के लिये कुछ कर दिखाया है जो आत्म-सुख-रत न हो खुदगरजी से दूर हटा है; इस तरह के उदार भाव का उन्मूलन हुये यहाँ बहुत दिन हुये। नई शिक्षा प्रणाली नये सिरे से हम लोगों में पुनः उसका बीजारोपण सामयिक शासकों के नमूने पर किया चाहती है। कदाचित् कभी को यह बीज उगै पनपै और उसमें देशानुराग का अमृत फल फलै और कोई ऐसे सुकृती भाग्यवान् पुरुष देश में पैदा हों जो सुधास्यन्दी उसके पीयूष रस का स्वाद चखने का सौभाग्य प्राप्त करें पर हम तो अपने हतक जीवन में उसके स्वाद से वंचित ही रहेंगे।

मार्च १९०९

६—कर्तव्य परायणता

बड़े बड़े उत्कृष्ट गुण जिनसे मनुष्य समाज में माननीय होता है जिनके अभाव से सब ठौर निरादर पाता और हेठा समझा जाता है— उनमें कर्तव्य परायणता का होना गुण-गौरव की पहिली सीढ़ी है। पहिली सीढ़ी इसलिये इसे कहते हैं कि जब यही मालूम नहीं है कि हमें क्या करना उचित है और जिसके करने की जिम्मेदारी हम पर है त्रुटि या चूक होने से उसका हिसाब अन्तरात्मा को हमें देना होगा तब हम विद्वान् बड़े धर्मनिष्ठ भी हुये तो क्या ? कर्तव्य परायणता के कई एक अवान्तर भेद हम यहाँ नहीं लेते जिसमें जुदी जुदी जाति के लोगों में अलग-अलग मतभेद हैं। कितनी बातें ऐसी हैं जिन्हें हम हिन्दुस्तान के रहने वाले कर्तव्य मानते हैं पर इङ्गलैंड तथा योरोप के और-और देश फ्रान्स जर्मनी इत्यादि के लोग उसे अवश्य कर्तव्य न समझेंगे। जैसा पुत्र के लिये बाप-माँ की सेवा और अपनी सब कमाई उनके अर्पण करना या अपने छोटे तथा असमर्थ भाइयों और कुटुम्ब को पालना पोसना यहाँ हिंदुस्तान में एक कर्तव्य कर्म है और न करने पर निन्दा है वैसा यूरोप के इङ्गलैंड फ्रान्स आदि देशों में नहीं। अंगरेजों में बाप-माँ की कुछ विशेष खबर न ले सर्वस्व अपनी मेम साहबा को सौंप देना महा कर्तव्य परायणता है। यहाँ ऐसा करने से समाज में निन्दा है। यहाँ कुलवती स्त्रियों के लिये बात-चीत और संलाप एक ओर रहे, घूँघट के ओट से भी किसी परपुरुष का देखना निन्दनीय है वरन् सूर्य चन्द्रमा भी उन्हें न देख पावें यहाँ तक असूर्य-पश्या होना कर्तव्य परायणता है जैसा किसी कवि ने कहा है—

"पशुन्यासो गेहाद्बहिरहिकथारोगणासमो ।
निशावासादन्यत्रगमनपरस्त्रीपगमनम् ॥

बचो लोकाजम्यं कृपणधनतुल्यं मृगदृशः।
पुमानन्य कान्ताद्विधुरिव चतुर्थी समुदितः॥

कुलवती स्त्रियों का घर से बाहर पाँव काढ़ना वैसा ही है जैसा साँप के फन पर पाँव रखना; अपने घर से किसी दूसरे के घर कभी जाना तो मानों द्वीपान्तर में जाना है; उनके मुँह की बोल दूसरे के कान को सुनने के लिये वैसा ही अप्राप्य है जैसा सूम का धन दूसरे को नहीं मिल सकता। उनका किसी परपुरुष की ओर निहारना वैसा ही है जैसा भादों के चौथ के चाँद का देखना। और भी रस मंजरी में स्वकीया का उदाहरण इस भाँति कुलवती स्त्रियों के बर्ताव के सम्बन्ध में दिखाया है—

"गतागतकुतूहलं नयनयोरपांगावधि स्मितं
कुलनतभ्रुवमधर एव विश्राम्यति।
वचः प्रियतमश्रुतेरतिथिरेवकोपक्रमः
कव चिद्यदिचेत्तदा मनसि केवलं मज्जति"॥

नेत्र के कटाक्षों का इधर-उधर चलाना आँख के कोनों ही तक में; कुलवधू जनों का हँसना होठों के फरकने ही तक; उनके बचन केवल प्राणनाथ अपने पति के कानों ही तक; नये आये हुए पाहुने की भाँति क्रोध यदि कभी आया भी तो मन ही मन मसोस कर रह गईं। व्यय में मुक्त हस्त न हो घर के काम-काज तथा शिशु-पालन में प्रवीणता आदि उत्तम गुणों की खान हिन्दू ललनाओं का अखण्ड पुण्य और उनका पवित्र चरित्र ही भारत को इस गिरी दशा में भी करावलम्ब देते सर्वथा अधःपात से इसे बचा रहा है। जिनके चरित्र-पालन की प्रशंसा में किसी कवि ने ऐसा भी कहा है—

"अपि मां पावयेत्साध्वी स्नात्वेतीच्छति जान्हवी"

यह साध्वी हमारे में आय स्नान कर हमें पवित्र करे ऐसा जगत् पावनी जान्हवी गंगा भी चाहा करती हैं।

यूरोप देश निवासियों को इसमें कुछ भी कर्तव्य परायणता नहीं समझी गई। यहाँ लौं सभ्यता जोर किये हुये है कि किसी की मेम साहबा को कोई बग्घी पर चढ़ाये दिन भर घूमते और सैल सपाटा करते रहें कोई क्षति नहीं। अस्तु, इस तरह की एक-एक जाति की अलग-अलग कर्तव्य परायणता को जुदे-जुदे देशों की जुदी-जुदी रिवाज और अपने-अपने समाज के भिन्न भिन्न क्रम या दस्तूर मान हम उसे कर्तव्य परायणता न कहेंगे बल्कि कर्तव्य परायणता उसे कहेंगे कि जिसके न करने में प्रत्यवाय अथवा प्रायश्चित है जैसा ब्राह्मण के लिए सूर्योदय के समय सन्ध्योपासना कर्तव्य कर्म है और उसके न करने में प्रत्यवाय है।

कर्तव्य पर ध्यान और समय का उचित अनुवर्तन (पंक्चुअलटी) दोनों का साथ है। सच पूछो तो हम इन दोनों से च्युत हो गये हैं जो अपने समय को ठीक रखना या पालन करना जानता है अपने वक्त को बेजा न खोता वही कर्तव्य परायण भी भरपूर रह सकता है और ये दोनों इस समय हमारे शासनकर्ता में अच्छी तरह पाये जाते हैं। जब हम इन्हें अपना शिक्षा गुरु अनेक सामयिक सभ्यता की बातों में मान रहे हैं और उन्हें अपना गुरुगुरु समझ उनका अनुकरण कर रहे हैं तो इन दोनों में भी उनके अनुयायी क्यों नहीं? किन्तु यह भी कुछ देश के भाग्य ही कहेंगे कि यहाँ के लोग बुराई का अनुकरण पहले और बहुत जल्द करने लगते हैं भलाई को भुलाय उस ओर कभी झुकते ही नहीं। जित जेता का अनुकरण करते हैं यह प्राकृतिक नियम की भाँति हो रहा है और यह कुछ यहीं नहीं वरन् सब देश और सब जाति के लोगों में देखा गया है।

जब से मुसलमान यहाँ के जेता हुए उस समय से हम उनकी चाल ढाल; नशिस्त बरखास्त के कायदे न केवल उनकी अरबी-फारसी तथा उर्दू भाषा वरन् दीन इसलाम को अब तक अपनियाते आये आधे से अर्द्ध-यवन हो गये; यहाँ लौं कि मुसलमानों को अपना एक अंग बना

लिया अब पचास-साठ वर्ष से हिन्दू मुसलमान दोनों अपने नये जेता का अनुकरण कर रहे हैं, किन्तु उनमें जो कुछ त्रुटि है केवल उसी का उनमें भलाई क्या है उसका नहीं। उनका-सा अध्यवसाय धुन बाँध के किसी काम को करना विघ्न पर विघ्न होता रहे पर जिसे आरम्भ किया उसे करी के तब छोड़ना; स्वजाति पक्षपात; विद्याभ्यास; ऐक्य; साहस; धैर्य; वीरता; विचार की दृढ़ता आदि उनके अनेक गुणों की ओर कभी ध्यान नहीं देते उनकी-सी भोग-लिप्सा-पान दोष इत्यादि को अलबत्ता अपना करते जाते हैं।

यावत् कर्त्तव्यों में वर्तमान गिरी दशा से अपना उद्धार महा कर्तव्य परायणता है किन्तु इस पर किसी का ध्यान नहीं जाता प्रत्युत उसी को कर्तव्य मान रहे हैं जिसमें हमारा अधिक बिगाड़ है और गतानुगतिक न्याय के अनुसार भेड़िया धसान के समान आँख मूँद उधर ही को बराबर चले जाते हैं। सिंधिया और होल्कर के पूर्व पुरुष इसी कर्त्तव्य परायणता के बदौलत इस उत्तम पद पर कर दिये गये; ये दोनों पेशवा के घर के सेवक थे। इतिहासों में कितने इसके उत्तम उदाहरण पाये जा सकते हैं इस समय भी यद्यपि देश बड़ी गिरी दशा में आ गया है पर ढूँढ़ने से बहुत से अच्छे उदाहरण मिल जायँगे। जिनमें कर्तव्य परायणता होगी उनमें समय का सदनुष्ठान (पंक्चुअलिटी) भी अवश्य होगी। दोनों उत्तम गुणों का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है, बिना एक के दूसरा कभी रही नहीं सकता। देश के कल्याण के लिए इन दोनों का उस देश के निवासियों में आना स्वाभाविक गुण होना चाहिये। ईश्वर प्रसन्न होकर हम लोगों में कर्तव्य परायणता स्वाभाविक गुण पैदा कर दे तो देश का उत्थान सहज में ही जाय। सर्वसाधारण की दशा के परिवर्तन की यह पहली सीढ़ी अवश्य कही जायगी और सीढ़ी-सीढ़ी चढ़ते जायँ तो कदाचित् एक दिन शिखर पर भी चढ़ बैठें तो अचरज क्या।

जून १९०१

१०—तेजस्विता या प्रभुशक्ति

सोत्साहस्य हि लोकेषु नकिंचिदपि दुष्करम् ॥

ऊपर का वाक्य आदि कवि महर्षि वाल्मीकि का है। "तेजीयान् उत्साह युक्त के लिये संसार में ऐसी कोई बात नहीं है। जिसे वह न कर डाले" सच है जिसका जी नहीं बुझा, हिम्मत बांधे है, जिसको बड़े से बड़ा काम कठिन नहीं मालूम होता। हमारी आर्य जाति बार-बार पराजित होते होते गर्दखोर हो गई। बल, वीर्य उत्साह, सत्व, पौरुष अध्यवसाय, हिम्मत सब खो बैठी जो सब गुण मनुष्य में तेजस्विता के प्रधान-प्रधान अंग है। अंग और अंगी का परस्पर सम्बन्ध रहता है जब अंग न रहे तो अंगी के होने की क्यों आशा की जा सकती है-और अब तो प्रभुत्व शक्ति का सर्वथा अभाव दिखाई देता है। हिन्दुस्तान के लोग फर्माबरदारी ताबेदारी इताअत में संसार की सब जाति में अगुआ गिने जा सकते हैं सो क्यों ? इसीलिये कि इनमें से अपनापन सब भाँति जाता रहा वह आग बिलकुल बुझ गई जिससे इनमें तेजस्विता आती जो आग और जाति के लोगों में धधकती हुई पूर्ण प्रज्वलित हो रही है। शिक्षा और सभ्यता का संचार, उन-उन तेजस्वी जाति वाले विदेशियों का घनिष्ठ सम्बन्ध, उनका उदाहरण इत्यादि सैकड़ों यत्न और चेष्टा उसके पुनः संचार की सब व्यर्थ होती हैं।

तेजस्विता प्रभुत्व शक्ति की कारण तो हई है वरन् अपने में बड़प्पन या बुजुर्गी आने की बुनियाद है। प्रभु-शक्ति संपन्न तेजीयान् कैसी ही कठिनाई में आ पड़े अपने दृढ़ अध्यवसाय, स्थिर निश्चय, पौरुषेय गुण के द्वारा उस कठिनाई के पार हो जाने का कोई रास्ता अपने लिये निकाल ही लेता है। यह साहसी उससे अधिक कर सकता है जितनी उसमें उस काम के करने की (सेन्स) स्वाभाविक शक्ति दी गई

है। वरन् स्वभाविक शक्ति के बल करने वाले को जितना नैराश्य, भय, हेतु, और शंका स्थान रहता है उसका आधा भी तेजीयान् प्रभुत्व-शक्ति-संपन्न को न होगा। और यह प्रभुत्व-शक्ति चारित्र्य (करेक्टर) का तो केन्द्र भाग है जिसके चरित्र में स्खलन है वह क्या दूसरों पर अपनी प्रभुता या रोब जमा सकता है? तेजः पुँज की वृद्धि केवल वीर्य रक्षा आदि चरित्र की संपत्ति ही से सुकर है; तो निश्चय हुआ कि पहले हम अपने को सुधारे रहें तो दूसरों को सुधरने के लिये प्रभु बनें, नहीं तो किस मुख से औरों को हम कह सकते हैं—"खुद फजीहत दीगरे देह नसीहत।"

बल्कि यों कहिये वही तो पुरुष है जिसमें तेज है। यह सतेजस्कता हमारे हर एक काम में ऐसा ही सहायक है जैसा रक्त-संवाहिनी शिरा या धमनी शरीर में जीव की साक्षिणी रह जीवन में सहायक होती है। नाड़ी छुट जाने पर मरने में देर नहीं लगती; अच्छा वैद्य रसों का प्रयोग कर फिर उसे जगाता है। हमको अपने कामों में सच्ची उम्मीद उसी से रखना उचित है जिसमें तबियत में जोर पैदा करने वाला यह गुण विद्यमान् है बल्कि मनुष्य के जीवन रूप कुसुम की मन हरने वाली सुवास यही है। धिक् कातर दुर्बलचित्त को—स्थिर अध्यवसाय दृढ़ चित्तता ही यहाँ बरकत या कल्याण का मार्ग है। दुर्बल और प्रबल, बड़े और छोटे, जित और जेता, निर्धन और आढ्य में अन्तर बताने वाला यही प्रभु शक्ति-संपन्न सतेजस्कता या तबियत में जोर का होना है। बिना जिसके असीम बुद्धि-वैभव, अर्थात् विद्या और सब तरह का सुभीता के रहते भी आदमी दो टाँग वाला जानवर है। तेजीयान् और रखने वाला यदि उद्देश्य उसका सर्वथा उत्तम और सराहना के योग्य है तो वह किस बड़े काम के लिये उतारू होगा करी डालेगा; यहाँ की अदालतों में हिन्दी अक्षरों के प्रचार पाने के उद्योग पर हम अपने मित्रवर मालवीय जी को सदा हँसाते थे और यही समझते थे कि यह सब इनकी बढ़ती

उमर की उमंग मात्र है। किन्तु स्थिर अध्यवसाय के साथ तबियत में जोर का होना इसी को कहेंगे कि हमारे मित्रवर इस अपने उत्तम (नोबिल) उद्देश्य में कृतकार्य हुये ही तो। मनुष्य चाहे बड़ा बुद्धिमान् न हो पर अध्यवसाय और रगड़ करने में थकैगा नहीं तो वह अवश्य कृतकार्य होगा; और ऐसे काम जिसे काम कहेंगे जो बहुत से लोगों के नफा नुकसान का है बिना रगड़ के कभी सिद्ध भी नहीं हुये। तबियत में जोर रख रगड़ करने वाला जितना ही कठिनाई और विघ्नों के साथ लड़ता रहेगा उतना ही उसका नाम होगा और यत्नशीलों में अगुआ माना जायगा। कहा भी है—

"न साहसमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।
साहसं पुनारारुह्य यदि जीवति पश्यति॥"

वह साहसी अपने निरन्तर अभ्यास, प्रयत्न और परिश्रम के द्वारा असंभावित को संभावित कर दिखा देगा। जिनमें जोर नहीं बुझे दिल के हैं सदा संशयालु हो शक में पड़े रहते हैं; उनको तो छोटी-छोटी बात भी जो संभावित है सदा असंभावित रहती है। यूरोप के नये-नये दार्शनिक (मॉरलिस्ट) मनुष्य अपने काम में स्वच्छन्द है इस बात पर बड़ा जोर देते हैं इसमें सन्देह नहीं आदमी जल में पड़े हुये तिनके या घास फूस के सदृश नहीं है कि जल का प्रवाह उसे जिधर चाहे उधर ले जाय किन्तु यदि वह दृढ़ता के साथ अपने में अच्छे तैराकू तैरने वाले की ताकत रखता है और विघ्नों के झकोर से नहीं हटता तो अन्त को कामयाब होता ही है। जब तक हम जीते हैं हमारा चित्त प्रतिक्षण हम से यही कह रहा है कि तुम अपने काम के आप जिम्मेदार हो। संसार के अनेक प्रलोभन और अभ्यास तथा आदतें उसे अपनी ओर नहीं झुका सकते: प्रलोभित हो उधर झुक जाना केवल हमारी कचाहट है। इससे जो अपने सिद्धान्तों के दृढ़ हैं वही मनुष्य हैं उनके पौरुषेय गुण के आगे कुछ असाध्य नहीं है।

सितम्बर १८८०

११—भक्ति

भक्ति यह शब्द भज धातु से बना है जिसके अर्थ हैं सेवा करना। सेवा से प्रयोजन यहाँ वैसी सेवा का नहीं है जैसा नौकर अपने मालिक की सेवा कोई निश्चित वेतन प्रति मास या प्रति वर्ष ले करता है किन्तु उस तरह की सेवा जिसे सेवक प्रेम और विश्वास के उद्गार से पूरित हो अपनी सेवा का बिना कुछ बदला चुकाये या वेतन इत्यादि की इच्छा बिना रख के करे। यद्यपि भक्ति, श्रद्धा, रुचि, लौ, लगन, प्यार इश्क आदि कई शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं किन्तु भक्ति का दरजा सब से बढ़ कर है। भक्ति से जो भाव हृदयंगम होता है अर्थात् भक्त को अपने सेव्य या प्रभु पर जिसकी भक्ति भावना में वह लगा है जैसा भाव मन में उदय होता है वैसा श्रद्धा आदि शब्दों से नहीं होता। इसका स्वाद ही निराला है यह मानो गूँगे का लड्डू है। जो कुछ आनन्द और सन्तोष तथा शान्ति चित्त में आय जगह कर लेती है उसका केवल अनुभव-मात्र चित्त को होता है जिह्वा द्वारा उसका प्रकाश हो ही नहीं सकता। इसलिये कि मन जिसको अनुभव होता है उसको बोलने की ताकत नहीं है और मुख जिसके द्वारा शब्द गढ़े जाते हैं उसको अनुभव करने का सामर्थ्य नहीं है। यद्यपि भय या लोभ आदि कारणों से भी भक्ति या श्रद्धा आ जाती है पर हमारा मतलब यहाँ उस तरह की भक्ति से नहीं है। सच्ची भक्ति वही है जो निःस्वार्थ हो और यह पवित्र भाव या अनुराग वहीं ठहर सकता है जहाँ स्वार्थ की गन्ध भी न हो। आपे को बिलकुल मिटाय कायिक, मानसिक, वाचिक जितनी चेष्टा हैं सब उसी अपने प्रभु के लिये की जाँय जिसकी वह भक्ति करता है और इसी कायिक, मानसिक, वाचिक आदि भाँति-भाँति की जुदी-जुदी चेष्टाओं को ६ हिस्सों में बाँट शाण्डिल्य आदि हमारे

पुराने आचार्यों ने नवधा भक्ति नाम रक्खा—जिसका प्रादुर्भाव या जिसकी फिलासफी केवल हिन्दुस्तान ही में दर्शन के आकार में परिणत हुई। और शांडिल्य के उपरान्त फिर महाप्रभु बल्लभाचार्य ही को सूझी। शांडिल्य ने जो कुछ निरे खयाल (थ्योरी) में रक्खा उसको बल्लभाचार्य ने (प्रेक्टिकल) करके दिखला दिया, कर्म योग कैसा होना चाहिये उसका रूप खड़ा कर दिया और उसके आधार बाल-भाव में भगवान् कृष्णचन्द्र को बनाया।

अकुटिल भाव, सरल चित्त, जो को सिधाई की परीक्षा का निकशोपन कसौटी जैसा यह भक्ति है वैसी कोई वस्तु संसार में नहीं है। इस तरह के हमारे सच्चे भक्तों पर मूर्खता का दोष आरोपित किया जाता है खास कर इस समय जब शिक्षा का प्रवाह हमारे देश में बह निकला है, पढ़े-लिखे लोग ऐसों को हँसते हैं उन्हें दिल्लगी में उड़ाते हैं पर अकुटिल चित्त हमारे भक्त-जन उनकी ठठोली का कुछ भी खयाल न कर प्रेम और अनुराग में डूबे हुये संसार के यावत् बाह्य प्रपंच को लात मारते हैं। 'सूरदास की काली कमरी चढ़ै न दूजा रंग'—देश या जाति का नवाभ्युत्थान या अधःपतन साइन्स की नई-नई इजादों से अनेक तरक्कियाँ होती रहें उनको इससे कुछ सरोकार नहीं। हिन्दुस्तान क्यों दीन-हीन हो डूबता जाता है इसका भी उन्हें कोई शोक-सन्ताप नहीं। विदेशियों के बताये मार्ग पर चलने से हमारी तरक्की है कौमीयत का बाना बाँधने में हम भी अग्रसर हो सकेंगे इसका कुछ हर्ष नहीं। अपने सव्य-प्रभु की अविच्छिन्न सेवा में अन्तर न हो या तत्सामीप्य वियोग-जनित-क्लेश न हो यही उनका मुख्य उद्देश्य है। जैसा कुंभनदास को दिन भर का वियोग कई वर्ष हो गये थे जो अष्टछाप के वैष्णवों के इस पद से प्रगट है "कितक दिन होइ जो गये बिनु देखे—तरुण किशोर श्याम नन्दनन्दन कछुक अवल मुँह रेखे" इत्यादि॥

हरि-भक्ति, देव-भक्ति, गुरु-भक्ति, पितृ-भक्ति, मातृ-भक्ति, राज

भक्ति, देश-भक्ति आदि भक्तियों के अनेक भेद हैं। दैव का कुछ ऐसा कोप है कि इस अन्तिम भक्ति देश की भक्ति का काल यहाँ बहुत दिनों से आ रहा है। इन सब प्रकार की भक्तियों में हमारी ऊपर लिखी भक्ति की अवतरणिका सबों के साथ पढ़ने वाले लगा सकते हैं। इस भक्ति के प्रकरण में एक नये तर्ज की भक्ति और भी है जिससे हमारे बहुत से पढ़ने वाले पूर्ण परिचित होंगे इससे उसका लक्षण या उसके विशेष वर्णन की बहुत आवश्यकता नहीं मालूम होती और उसका नाम भार्या-भक्ति है—मन-वच-कर्म सर्वतोभावेन अर्द्धांगिनी में दास्य-भाव इसका सारांश है। माता-पिता कुनबा-गोत सब से मुँह मोड़ अनन्य भाव से पत्नी देवी की आराधना ही इस महाव्रत का साफल्य है। फल जिसका किसी कवि ने यों लिखा है—

व्यापारान्तरमुत्सृज्य वीक्षमाणो वधूमुखम् ।
यो गृहेष्वेव निद्राति दरिद्राति स दुर्मतिः ॥

पूस १८८४

१२—सुख क्या है ?

सुख के सम्बन्ध में आधुनिक वेदान्तियों का तो सिद्धान्त ही निराला है जिन्होंने व्यास-कृत प्राचीन वेदान्त दर्शन के जो कुछ उत्तम सिद्धान्त थे कि सुख-दुख में एक-सा रहना सुख में फूल न उठना दुख में घबड़ाय नहीं रो न कर छिपे नास्तिक ये वेदान्ती अब मानते हैं कि सुख-दुख पाप-पुण्य बुरा-भला दोनों एक हैं और दोनों बड़े बन्धन हैं। पाप-पुण्य दोनों शरीर करता है आत्मा शुद्ध और निर्लेप है, इत्यादि। खैर वेदान्तियों के ये कच्चे सिद्धान्तों को अलग रख हम यहाँ पर आज विचार किया चाहते हैं कि सुख क्या है ? लोग कहते हैं इन पर भगवान की कृपा है ये बड़े सुखी हैं। पर इसका कोई ठीक निश्चय अब तक न हुआ कि सुख क्या वस्तु है जिसके लिये संसार भर लपचा रहा है। कोई बड़े परिवारी और बढ़े हुये कुनबे को सुख की सीमा मानते हैं। कच्चे-बच्चे लड़के-बालों से घर भरा हो एक इधर रोता है दूसरा उधर पड़ा चिल्ला रहा है सब ओर किच पिच गुल-शोर मच रहा है एक बाबा की डाढ़ी खसोटता है दूसरा कान मींजता है तीसरा गोद में चढ़ा बैठा है चौथा सामने पड़ा मचला रहा है बाबा बेवकूफ मनोमन फुटेहरा से मगन होते जाते हैं और अपने बराबर भाग्यमान और धन्य किसी को नहीं मानते। कोई-कोई इसी को बड़ा सुख मानते हैं कि अनगिन्ती रुपया पास हो उलट-पुलट बार-बार उसे गिना करें न खायें न खरचैं साँप बने बैठे-बैठे ताकते रहैं। जैसे हो तैसे जमा जुड़ती रहै बात जाय पत जाय लोक में निन्दा हो कोई कितना ही भला बुरा कहे पर गाँठ का पैसा न जाय। तुम उसके रुपये या फायदे में खलल अन्देज न हुये हो चाहो तुम्हारा सा बदकार कंबख्त अपाहिज सारी दुनिया के परदे में न पैदा हुआ हो तुम उसके लिये सिर की

कलंगी होगे। वही आप संसार के समस्त गुणियों में अग्रगण्य हों अपने सुयश की महक से महर मार करते गुनाय और सदवृत्त की कसौटी में कसे हुए हों पर उस खूसट स्वार्थ लपट से रुपये में अपना उचित हक समझ एलान आग्देज पुने बस आपसा नालायक और बुरा दूसरा कोई उसकी निगाह में न जँचेगा। उसके सामने आप का नाम किसी की जबान पर आ जाय ना गालियों के सहस्रनाम का पाठ प्रारंभ कर देगा। न सिर्फ आपको वरन् आप जिनके बीच में चलते फिरते हैं जो तुम्हें सदवृत्त समझ तुम्हारी कदर करते हैं उनके लिये भी उसी सहस्रनाम का पाठ तैयार है। किसी की समझ में हुकूमत बड़ा सुख है अपनी हुकूमत के जोर गरीब दुखियारों को पीस उनका लहू सुखाय-सुखाय न्याय हो चाहे अन्याय अपना सुख और अपने फायदे में जरा भी कसर न पड़े इत्यादि इस कंबख्त के लिये सब सुख हैं।

किसी-किसी का मत है कि शरीर का निरोग रहना ही सुख सन्देह का उद्गार है इसी मूल पर यह कहावत चल पड़ी है "एक तन्दुरुस्ती हजार न्यामत।" ये सब सुख ऐसे हैं जो देर तक रह सकते हैं और जिनके लिये हम हजार-हजार तदबीरें और फिक्र किया करते हैं फिर भी ये सब तभी होते हैं जब पुर्बिले की कोई अच्छी कमाई हो। और अपने किये नहीं होता जब तक उस बड़े मालिक को मंजूर न हो। अब कुछ थोड़े-से क्षुद्र सुखों को यहाँ पर गिनाते हैं और उन सुखों के भोक्ता किस प्रकार के होते हैं उसे भी उसी के साथ बताते चलेंगे। जैसा शहर के बदमाश और शोहदों को सुख नरम तथा रासी हाकिमों के होने से है। बनियों को महा दुर्भिक्ष परम सुख है, हजारों का अन्न खरीदे हुये हैं नित्य पनसेरी खुड़काते-खुड़काते यह दिन आया कि अन्न ढूँढ़े नहीं मिलता सेठ जी साहब की गज भर की छाती है मुनाफे का मँजियों रुपया डकार बैठे। दलालों को सुख आँख का अन्धा गाँठ का पूरा मिल जाने से है। कलहा कर्कशा को सुख लड़ने और

दाँत किर्रने में है, परद्रोही ईर्षी को दूसरे के नुकसान में है. इत्यादि भिन्न-भिन्न रुचिवालों को जुदे-जुदे अन्दाज के सुख हैं। सच है "भिन्न-रुचिर्हिलोकः" कभी कभी हम सुख के भाव को लोगो पर प्रगट होने से रोकना पड़ता है। हमारा एक परोसी सैदीवाल मर गया। जी से तो इतना खुश हुये मानो कारूँ का खजाना हाथ लगा पर लोक लाज भरने को चार भाइयों के बीच अपने सुख के भाव को छिपाने को उस मरे हुये के नाम पछताना पड़ता है। "क्या कहें कुछ कर गये बहुत अच्छे थे भाई मौत में किसका वश है ऐसे ही मौके पर तो आदमी सब तरह विवश हो जाता है।"

सच पूछिये तो चित्त में सुख का भाव पैदा होने की बुनियाद कुछ नहीं है केवल प्राप्य वस्तु के अभाव का मिट जाना ही सुख है। ईश्वर करे सुख में रह कर पीछे से दुखी किसी को न होना पड़े ऐसे को दुखी जीवन से मर जाना उत्तम है।

सुखंहि दुःखान्यनुभूय शोभते घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्।
सुखेन यो जाति नरो दरिद्रतां घृतः शरीरेण मृतः सजीवति ॥

जैसा घने अन्धेरे में चले जाते हुये को एकाएक दीपक का उंजेला मिल जाय उसी तरह दुःख भोग तब सुख में आ जाना शोभा देता है जो मनुष्य सुख में रह तब दरिद्र हो जाता है वह मानो शरीर धारण किये श्वास ले रहा है पर वास्तव में मरा हुआ है। दुःखैक मात्र सार इस संसार में सुख से जीवन काटने को बहुतों का सुख चाहना पड़ता है। नौकर को अपने मालिक का सुख, रियाया को अपने हाकिम की खुशी। शागिर्द को उस्ताद की खुशी। माँ-बाप को अपने लड़के बालों का सुख। आशिक तन को अपने दिलदार यार का सुख। शहर के रईसों को मजिस्ट्रेट साहब की खुशनूदी। मातहत अफसरों को सर दफ्तर की खुशी। हमको अपने पढ़ने वालों की प्रसन्नता आपेक्षित है। किसी रसीले चुटीले मजमून पर पढ़ने वालों के दाँत निकल पड़े

हमारा परिश्रम सफल हो गया। साध्वी सच्चरित्र स्त्रियों का सुख पति के सुख में है। पादरी साहब की प्रसन्नता जगत भर को क्रिस्तान कर डालने में है। सच्चे देशहितैषियों को देश की भलाई में सुख है, इत्यादि। सुख को सब लोग कोने अँतरे सब ठौर ढूँढ़ते फिरते हैं किन्तु उसके पाने में कृत कार्य हजार में लाख में कहीं एक ही दो होते हैं।

अगस्त १८६९

१२—संसार सुख का सार है हम इसे दुःख का आगार कर रहे हैं

संसार सुख का सार और स्वार्थ तथा परमार्थ साधन का पवित्र मन्दिर है पर हम इसे अपने कुलक्षणों से दुःख के प्रवाह का श्रोत यावत् सन्ताप और क्लेश का अपवित्र आलय कर रहे हैं। पौरुषेय गुण-शून्य हम अपने अकर्मण्य वेदान्तियों को क्या कहें जो संसार की दुःख-रूप मिथ्या और नश्वर मानते हैं, यह प्रत्यक्ष है कि यह हमारे ही अविचार अविवेक अशान्ति असन्तोष मोहान्ध-बुद्धि आदि दुर्गुणों का कारण है कि स्वर्ण-मन्दिर संसार को हम ढहाय के उजाड़ खंडहर कर रहे हैं। जहाँ अमृत का कुण्ड भरा है उसे हम हलाहल विष से भरे देते हैं। बड़े विद्वान हुये यावज्जीव शास्त्र और फिलॉसफी को रट-रट पच मरे, जितना रट डाला उसके एक वाक्य पर भी जो विवेक और विचार को काम में लाते तो अपने अस्तव्यस्त कामों से जो अनेक दुःख सहते हैं और अपनी समझ और काम को दोष न दे संसार को दुःख का आगार मान बैठे हैं यह भ्रम मिट जाता। यदि विवेक और विचार को मन में जगह देते तो जो दुःखमय बोध होता है वही अनन्त सुख का हेतु होता।

"हाथ कंगन को आरसी क्या ?"

जिस काम को हम विचार और विवेक पूर्वक करते हैं उसमें पूरे कृतकार्य होते हैं और दैवात् कभी न भी कृतकार्य हुये तो पीछे से पछताव नहीं रह जाता। यही बात असन्तोष में पाई जाती है हजार कमाया लाख कमाया सन्तोष नहीं होता रात दिन चिन्ता में व्यग्र रहते हैं रात को नींद नहीं आती, दिन में खान-पान नहीं

मोहाता। रुपये के मुकाबिले बेटे को बाप से न बाप को बेटे से कोई मुहब्बत है, स्त्री जो अपनी अर्द्धांगिनी है उससे भी प्रेम नहीं है तो भाई-बन्धु, गोती नाती, लोग कुटुम्ब कहाँ रहे, मनुष्य जन्म की सफलता और यावत् सुख का सारांश उन्हें तभी मालूम पड़ता है जिस समय रुपयों की गँजिया खोल गिनने लगते हैं। तोले दो तोले मलाई पचा लेना जिनके लिये कठिन काम है जिसका सेर दो सेर का वजन हम ऐसे भुक्खड़ों की सुधासागर के किस कोने में समा गया मालूम भी नहीं पड़ता, दस की हुण्डी बावन मिती की कल भुगतान देने को है २५ फलाने असामी के नीचे दबा है मियाद बीतती है असामी दिवा लिया हो रहा है कल ही नालिश नहीं करते तो रकम डूबती है रात की नींद दिन की भूख गवाँय बैठे। अहर्निश चिन्ता के सागर में डूबे हैं नीयत दुरुस्त नहीं कोई की कैसी रकम हो निगल बैठने के लिये बहाना ढूँढ रहे हैं। यही करते-करते एक दिन मुह बाय रह गये सुख क्या वस्तु है न जाना। वही तीन गंडे रोज का मजदूर दिन भर मेहनत के उपरान्त रूखा-सूखा अन्न खाय टाँग पसार रात को सुख से सोता है चिन्ता और फिकिर किसका नाम है जानता ही नहीं सच है:—

दिवसस्याष्टमे भागे शाकं पचति स्वगृहे।
अनृणी चाप्रवासी च सवारिचर मोदते॥

अस्तु, इस तरह बड़ी कृपणता और कदर्यता से रुपया जोड़ सिधार गये। सन्तान उनकी ऐसी कुल कुठार जन्मी कि वर्ष ही दो वर्ष में ऐयाशी, शराब ख्वारी आदि अनेक दुर्गुणों में फूँक तापा, यही सब सोच समझ किसी ने लिखा है:—

"आये दुःखं व्यये दुःखं कथमर्थाः सुखावहाः"

जिसकी आमदनी में दुःख जिसके खर्च हो जाने में दुःख तो धन सुख पहुँचाने वाला क्योंकर हो सकता है। आवेश में आय लिख तो

डाला पर इतना न सोचा कि विवेक पूर्वक धन का आय तथा व्यय हो तो कहाँ दुःख रह जाय? कोई ऐसे हैं कि औलाद के लिये तरस रहे हैं न जानिये कितनी मान मनौती माने हुये हैं; पूजा-पाठ, जप-तप सब कर थके। पुत्र का मुख न देखा, धन-धान्य राज-पाट जिसके बिना फीका मालूम होता है जीवन व्यर्थ मानते हैं। कोई ऐसे हैं कि औलाद से घर भरा है जिसकी यहाँ तक कसरत है कि ऊबे हुए हैं जिन्दगी के दिन पूरे कर रहे हैं। आँवा का आँवा गन्दा हो गया एक भी ऐसे न हुये कि इस बुड्ढे को सुख पहुँचाते एक-एक दिन भारी हो रहा है। सबेरे से उठ इसी फिकिर में लगता है कहाँ से लावैं कि इन्हें पालें। ७० वर्ष का हुआ पर आराम और सुख उसके लिये सपने के ख्याल हो गये। कुटुम्ब पालन के बोझ से पिसा बार-बार कौंखता है, खिजलाता है, समय को दोष देता है, संसार को नरक का भोग मानता है पर अपनी भूल को एक बार नहीं सोचता कि सृष्टि पैदा तो कर दिया और उसको किसी ढंग की करने का कभी ख्याल न किया, अपने आप अपना भरण-पोषण की योग्यता उनमें बिना पैदा किये ब्याह कर घर बसाता गया। बे-समझी का कुसूर तो तुमने किया दण्ड अब उसका दूसरा कौन भुगते? कुएँ की भाँग है किससे कहैं देश का देश इस बुराई में पड़ा झेल रहा है पर किसी के मन में यह नहीं आता कि यह महा कुरीति है इसे छोड़ दें। अपनी भूल को नहीं पछताते संसार को अथाह दुःख का सागर और अपने को उसमें डूबे हुये मानते हैं।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य इन छहों के चक्कर में पड़े हुये हम तुम सब ने अनेकानेक क्लेश झेलते हुये संसार को दुःखमय तो निश्चित कर रक्खा है किन्तु अपनी ओर एक बार नहीं देखते कि यह सब हमारा ही कुसूर है। हम जो अपने को सुधार डालें तो यह संसार जो जहर-सा कड़ुआ बोध होता है दाख रस-सा मधुर हो जाय। क्या समाजनीति क्या धर्मनीति क्या राजनीति जिधर देखो उधर हमारी ही बड़ी भारी त्रुटि पाई जाती है; जिससे हमारा समाज, हमारा धर्म, हमारे

राजनैतिक सम्बन्धी सब काम सर्वथा अस्तव्यस्त क्यों रहे हैं। यद्यपि समाज और धर्म सम्बन्धी अनेक बन्धन ऐसे दृढ़ हैं कि उनसे कोई देश और कोई जाति नहीं बची किन्तु हिन्दू जाति के समान इस नागपाश से कोई ऐसा जकड़ा नहीं है कि जरा भी इधर-उधर हील डोल नहीं सकते

आप सर्व-गुण संपन्न महामहिम बड़े विद्वान् हो अन्धे समाज जिसमें आप चल फिर रहे हैं आदर के योग्य न समझे गये तो आप निरे निकम्मे और राह की ठिकरी के बराबर बेकदर हैं। अधिकतर समाज में दो ही पूजे जाते हैं एक वे जिनके पास धन है नीचे से नीचा काम करता हो रुपये वाला हो तो वही महत्तर समझा जायगा। बहुधा और लोग समाज के उसको अपने लिये नमूना करेंगे। दूसरे वे जो कपट और बनावट का लबादा ओढ़े हुये हैं। उनके भीतरी कुचरित्र तथा बाहरी कितने बर्ताव देख जी कुढ़ता है घिन उपजती है यही जी चाहता है कि इस दुरात्मा का मुँह न देखें किन्तु चलन के अनुसार उससे मिलना पड़ता है केवल राम रमौवल मात्र निबाहैं सो नहीं वरन् सब तरह की घिस-पिस उसके साथ किना रक्खे। एक-एक समाज के इतने खण्ड और वह ऐसा संकुचित हो गया है कि आप निभ नहीं सकते। यह एक अनोखी बात हमी लोगों में देखी जाती है कि हाड़ की उत्तमता सब के ऊपर मान ली गई है जिसके मुकाबिले विद्या, गुण और लियाकत की कोई कदर नहीं है। और जाति में लियाकत के मुकाबिले हाड़ की उत्तमता पर इतना जोर नहीं दिया जाता "ड्यूक ऑफ वेलिंगटन" की पैदाइश का हाल किसी से छिपा नहीं है किन्तु अपनी योग्यता से इतना बढ़े कि ड्यूक कर दिये गये। षटकुल, अढ़ाई घर, चार घर, तीन और तेरह आदि कुलीनों के घराने इसी योग्यता ही की बुनियाद पर रक्खे गये थे। अब हमारे बिगड़े समाज में छः, अढ़ाई, तीन, तेरह इत्यादि समाज में बुराई बढ़ाने के द्वार हुए। आप षटकुल और अढ़ाई घर में हैं इसलिए आप जो चाहिए सो कर डालिये समाज आपको परम पवित्र मानता रहेगा। अब वह समय न रहा कि हम कुलीन हैं

इसलिए कुलीनता की लाज रखने को हमें फूँक-फूँक कर पाँव रखना मुनासिब है। अब आप चाहे समझ गये हों कि यह संसार हमें दुःखमय क्यों बोध होता है। संशोधन के क्रम पर इस ढंग को आप छोड़ा नहीं चाहते तब क्योंकर हो सकता है कि जो दुःखमय है वह सुख रूप हो जाय? अन्त में किसी बुद्धिमान् की यह भविष्य वाणी अवश्य चरितार्थ होने वाली है :—

सद्वंशाः प्रलयं सर्वे गमिष्यन्ति दुराशयाः।

बुद्धिमानों का सिद्धान्त है :—

सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्द्धं त्यजति पण्डितः।
अर्द्धेन कुरुते कार्यं सर्वनाशो हि दुःसहः॥

खान-पान की व्यर्थ की छिलावट इतना अधिक हमारे समाज में बढ़ी हुई है कि इस समय उसका निबाहना महा दुष्कर हो रहा है इसलिए ऐसा मालूम होता है कि अँगरेजी शिक्षा के प्रभाव से कुछ दिनों में हिन्दूपन का जो कुछ आभास मात्र बचा है वह भी न रह जायगा। नई सभ्यता के अनुसार खुदाबख़्श ब्रह्मचारी के पवित्र होटलों में शुद्ध भोजनों की प्रथा प्रचलित होती जाती है, खरबूजे को देख खरबूजा रंग पकड़ता है बल्कि यों कहिये यह फैशन में दाखिल है। कुलीनों को अपनी कुलीनता का अभिमान बढ़ रहा ही है तब क्या इधर पेड़ा फी छीलते जाइये उधर नई तालीम के जोम में भरे हुए आपके नौजवान आपकी आँख बरकाय इधर उधर होटलों में भी मुँह मारते रहें। आपके सामने समाज में प्रगट करने को कण्ठी या रुद्राक्ष भस्म और त्रिपुण्ड रमाय दो घण्टे तक पूजा भी करते जायँ उधर सभ्य समाज में दाखिल हो शेम्पेन और ह्विस्की पर भी तोड़ करें। हमारी क्षुद्र बुद्धि में ऐसा आता है कि ऐसी दशा में कदाचित् ऐसा होने से समाज के न बिगड़ने की अधिक आशा हो सकती है कि एक-एक समूह के लोग अपने अपने समूह में सह-भोजन की प्रथा निकाल दें जैसा ब्राह्मण-मात्र का सह-भोजन होने लगे ऐसा ही क्षत्री

और वैश्यों का भी। कच्ची तथा पक्की चाहे किसी जाति का ब्राह्मण हो भोजन कर लेने में कभी आगा पीछा न करे। दक्षिणी ब्राह्मणों में जैसा प्रचलित है कि महाराष्ट्र तैलंग, द्राविड़ सब एक साथ भोजन करते हैं। हमारे यहाँ आठ कनौजिये नौ चूल्हे प्रसिद्ध हैं जो केवल दंभ और ईर्षा की बुनियाद पर है, धर्म का कहीं लेश इसमें नहीं है। धर्म-शास्त्र के अनेक ग्रन्थ ढूँढ़ डारे कच्ची-पक्की तथा सखरी-निखरी के भेद में क्या मूल है कोई एक वचन भी इस तरह का न मिला। सखरी-निखरी की प्रथा निरी आधुनिक और निर्मूल है समाज को नित्य-नित्य नीचे गिराने को महा दाम्भिक अदूरदर्शी ईर्ष्यालु स्वार्थी लोगों की चलाई हुई है, जिससे लाभ कोई नहीं है आपस की ईर्ष्या द्रोह अलबत्ता जाती है और एक-एक समाज के इतने टुकड़े हो गये हैं कि हिन्दुओं में जातीयता "नेशनालिटी" कभी आवेहीगी नहीं। यह तो हम जानते हैं कि आपके चित्त में हमारे लेख का कुछ असर न होगा क्योंकि जो जागता है उसको जगाने से क्या? आप स्वयं सब जाने बैठे हैं तब हम आपको क्या सिखावें किन्तु हाँ, संसार को आप दुःख रूप मान बैठे हैं तो अब अपने सिद्धान्त को नहीं बदला चाहते। खान-पान के व्यर्थ के तितिम्बे को कम करने में कितना आराम और सुख है सब लोग इसे स्वीकार करेंगे किन्तु इतना साहस और इतनी हिम्मत किसी में नहीं है कि अग्रसर हो इसे करके दिखावे और दूसरों के लिए उदाहरण हो।

अँगरेजी तालीम के जमाने में आपकी ऐसा-ऐसा बेबुनियादी बेहूदा बातें अब देर तक चलने वाली नहीं हैं जिसे आप आचार-विचार के नाम से पुकार बड़ा घमण्ड कर रहे हैं कि हम मनुष्य मात्र में परम पुनीत और सर्वश्रेष्ठ हैं वही एक ऐसा कोढ़ है कि हिन्दू जाति और हिन्दू समाज को नित्य नीचे को गिराता गया और गिराता जायगा। मसल है :—

"कूँचे दाना कुनद-कुनद नादान बजे खराबिये बिसियार"

जो बुद्धिमान् करते हैं उसी को निर्बुद्धी भी पीछे से करने लगते हैं पर बड़ी खराबी और दुर्गति सहने के उपरान्त। यह निश्चय है कि समाज को जीर्ण और छिन्न-भिन्न करने वाले खान-पान के अनेक ढकोसले अब नहीं चल सकते। नई उमंग की नूतन सभ्यता में प्रवेश पायी हुई हमारी या आपकी सन्तान सब एकामयी कर डालेंगी। मुसलमान, पारसी, अँगरेज, हिन्दू खुला खुली एक साथ बैठ खाद्य अखाद्य सब कुछ खायँगे, जिस बात को अभी छिपाय के कर रहे हैं उसको प्रत्यक्ष में करने में जरा भी न शरमायँगे। प्राचीन महत्तम ऋषियों की चलाई प्रथा जिसे आपने निरा ढकोसला कर डाला सर्वथा निर्मूल हो जायगी। यह सब आप गवारा करेंगे और यह आपको पसन्द न आवेगा कि हिन्दू मात्र या उनमें की एक एक जाति ईर्ष्या द्रोह और मन्द बुद्धि को अलग कर भ्रातृ-स्नेह की डोरी में खिन्च एक साथ खायँ पियें और अपने देश या जाति की तरक्की में दत्तचित्त हो यथेष्ट हित साधन करें। बटलोही के चावल की टटोल की भाँति दो एक बात हमने आपके भ्रष्ट समाज का यहाँ दिखलाया जिससे चित्त खिन्नाय यही कहने का मन होता है कि संसार दुःख रूप है। काहे को हम समाज के अनेक इस तरह के कोढ़ जो दुःख और क्लेश दे रहे हैं उसे दूर हटाय अनन्त सुख-सन्दोह का हेतु उसे करेंगे। अस्तु, अब इस लेख को रांड़ों के चरखे की तरह कहाँ तक ओटते चले जायँ। सारांश यह कि संसार सुख-सन्दोह या परमात्कृष्ट मन्दिर है हम अपने कुढंग और कुचरित्र से अपवित्र कर अपने जीवन को दुःख-पूर्ण कर रहे हैं।

सितम्बर, १८९९

१४—चढ़ती जवानी की उमंग

समय राज का यह दोष कि 'कभी एक सा न रहा' लक्ष्य करने लायक है। बाल पौगण्ड तब कैशोर फिर युवा, युवा से अधेड़ उपरान्त बुढ़ापा जीव-मात्र के साथ लगा रहता है। सर्जित पदार्थ मात्र के साथ यह अदल-बदल चला ही जाता है। नामी से नामी वैज्ञानिक, दार्शनिक डाक्टर, वैद्य या हकीम तथा और-और आमिल कामिल जो अपने-अपने फन या हुनर का दावा रखते हैं उनको भी इस अदल-बदल के दूर करने में एक नहीं चलती। एक वह समय था जब हम भी नव-प्रसूत सद्यः-प्रस्फुटित कुसुम-सदृश तारुण्य-संपन्न जवानी के जोश में भर मदमाते हो रुस्तम को भी कुछ माल नहीं समझते थे; संसार सब भुनगा समझ पड़ता था; साहस और उद्योग में एकता थे। रूप-माधुरी और सौन्दर्य में रूपराशि अश्विनीकुमार तथा कामदेव से अपनी तुलना करते थे। उत्साह और हौसला तथा नई-नई उमंगों के आगे बड़े से बड़े काम तुच्छ और हलके जँचते थे। मन होता था कि कोई ऐसी मेगनाटिक पत्थर हासिल करें या कोई ऐसा वाष्पीय यंत्र या विद्युत् शक्ति ईजाद करें कि आसमान के सातवें तबक में तैरते फिरें। अथवा वेग-गामी विष्णु भगवान् के वाहन गरुड़ का पर नोच खसोट अपने में लगा लें कि ऊँचे से ऊँचा सत्य लोक पर्यन्त जा घूम आवें अथवा कोई ऐसा बर्मा निकालें कि अतल, वितल, सुतल, तलातल पाताल पर्यन्त उससे छेद डालें। अर्जुन ने भीष्म को धारा-गंगा का जल पिलाया था सो तो सब कथानक और पोथी का भांटा मात्र रहा हम कर के दिखा दें। एक लात मारें तो समस्त भूमण्डल काँप उठे, जलजला आ जाय, दिशाओं के अन्त में दिग्गज चिल्ला उठें। जर्रारी-तर्रारी में वीराग्रगण्य जापानी जो इन दिनों वीरता का नमूना दिखलाने

में सबों को अपने नीचे किये हैं उनके भी छक्के छुड़ा दें, हिकमत में अरस्तू और लुकमान को भी कहो कुआँ झकावें। हमारी वक्तृता के आगे वाचस्पति रह गई हैं, डिमास्थनीज और सिसिरो भी रहते तो शरमा जाते; तब इन दिनों के छोटभइये केशव सेन, सुरेन्द्रनाथ, दादाभाई, एनीबिसेंट, मिस्टर ग्लाडस्टन, मालवीय प्रभृति किस गिनती में हैं। किसी व्यवसाय की ओर झुक पड़ें तो "किंदूरं व्यवसायिनाम्" को लिखने वाले को सिद्ध कर दिखावें कि देखो व्यवसाय और उद्यम इसे कहते हैं। यूरोप और अमेरिका तो मानो घर आँगन था, पुराणों के सात द्वीप नौ खण्ड या यों कहिये पूर्वी और पश्चिमी गोलार्द्ध (ईस्टर्न और वेस्टर्न हेमीस्फेयर) दोनों को छाने उनका सत्त निकाल लें या यों कहिये अपनी वाणिज्य की योग्यता (ट्रेडिङ्ग कैपसिटी) को लेई सा पकाय दोनों गोलार्द्धों को एक में चिपका दें। हमारी पहल-वानी के आगे रूस्तम का कोई रुतबा न रहा। सच है:—

"मकड़ी का भुजदण्ड उखाड़ूँ तोड़ूँ कच्चा सूत।
मूसन मार बताशा फोड़ूँ हूँ मैं बड़ा मजबूत॥"

उदारता में हमें कलियुग का करन कहना कोई अत्युक्ति नहीं है। "चमड़ी जाय दमड़ी न जाय"—भी हमारे लिये बहुत ही सुघटित है। हमें अपनी जवानी का जोश यही बतला रहा था कि किफायत करना बड़ी चीज है। किसी की और-और हौसिले होते हैं हमें अपनी नई उमंग में रुपया जमा करने का भूत चढ़ा था। रूखे-सूखे अन्न से किसी तरह झोंफ समान इस उदर को भर लेते थे पर रुपया जोड़ते गये। औरों को किसी दूसरी बात में नाम पैदा करने की रुचि होती है हम को बद्धमुष्टि बज्र कृपिणता में नाम कमाने का शौक था। सूरत देखना कैसा, भोर को उठते हमारा नाम किसी की जबान पर आ जाय तो लोग कानों में उंगलियां देने लगते थे और सोचते पछताते थे कि न जानिये आज का दिन कैसा कटै? कड़ियापन और सूमाई के फन में कलकत्ता की बड़ी बाजार के मारवाड़ी भी हमें मान गये। हमारा

महामलिन आकार और कसीफ मैले-कुचैले कपड़ों को देख लोग यही अनुमान करते होंगे कि यह कोई अत्यन्त निष्किंचन परम दरिद्र होगा, यह किसी को क्या मालूम कि कारू का खजाना हमीं अपने नीचे गाड़े बैठे हुये हैं या कुबेर की संपत्ति हमारे ही पास गिरों है।

"दृढ़तरनिबद्धमुष्टेः कोषनिषण्णस्य सहजमलिनस्य।
कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः॥"

अस्तु, ईमानदारी और उदार भाव को काली के खप्पर में झोंक इस भाँति रुपया जोड़ यमराज की पहुनाई के लिये हम सिधार गये। दोही एक पुश्त के उपरान्त हमारे वंशधरों में ऐसे हुये जिन्हें युवा-अवस्था आने पर रुपया फूँकने का जोश सवार हुआ। तमाशबीनी और शराब-खोरी का शौक चर्राया, मटियाबुर्ज के नौवाब बनने का हौसिला हुआ, मीर शिकारों को काठ का उल्लू हाँथ लगा, भाँड़ भगतिये खुशामदी टट्टुओं की बन पड़ी। चुटकी बजा-बजा लगे भालू-सा उसे नचाने "भइया साहब आप इन दिनों अमीरी और रियासत में शहर की नाक हैं" एक दूसरा आय झुक के सलाम के बाद 'हुजूर नौवाब साहब के खोजासरा ने आप के लिये तुहफे भेजे हैं" दूसरा "हाँ भैया कहत तो ठीक बाटले—" भैया साहब फूल कर कुप्पा-सा हो गये इनाम इकराम में लगे रुपया दोनों हाँथ उलचने। इस बात के जोश में भरे हुये हैं कि हमारे बराबर का अमीर दूसरा कोई न सुनने में आवे। बरस ही छः महीने में कदर्य बाबा की कमाई जिसे उसने आधा पेट खाय न जानिये कौन-कौन सा अन्याय और दुराचार से इकट्ठा किया था खोय बहाय साफ कर डाला। कृपण का धन जिस ढङ्ग से आया था उसी ढङ्ग पर चला गया। सच है:—

"यदि नात्मनि पुत्रेषु न च पुत्रेषु नप्तृषु।
नत्वेवं चरितो धर्मः कर्तुर्भवति नान्यथा"॥

पुण्य या पाप कर्म जो मनुष्य से बन पड़ता है पहिले तो उसी पाप या पुण्य करने वाले पर आता है कदाचित् किसी कारण उस पर

न आया तो उसके पुत्र पर आ उतरता है। पुत्र पर भी न आया तो नाती या पोतों पर तो अवश्य ही आता है, कभी व्यर्थ जाता ही नहीं। इसी से पुराने लोगों की यह कहावत है "बाढ़े पुत्र पिता के धर्मे" समझदार, शान्तशील, गुरुनी पिता भी अनेक क्लेश और संकट सहते कुपथ से बचते फूँक-फूँक कर पाँव धरते हैं जिसमें उनके सन्तान पर उनके सुकृत का फल आ उतरे और वे फलें-फूलें। तात्पर्य यह कि चढ़ती उमर नई जवानी का जोश अद्भुत होता है जिसका कुछ थोड़ा-सा कई एक ढंग का चित्र हमने यहाँ पर खींच कर कई तरह के दृश्यों में दिखाया है। मनुष्य के जीवन में यह वह वयःक्रम है जो तमाम जिन्दगी भर के बनाने बिगाड़ने का बीजारोपणस्थली है। इसी से कहा भी है "जो ना हुँ है बीस पचीसा, सो का हुँ है तीसा"—यह समय जिसमें मनुष्य के जीवन में होनहार शुभ-अशुभ परिणाम का अंकुर पैदा होता है; जब इन्द्रियाँ सब अविकल रहती हैं दिन प्रति दिन मानसिक शक्तियों का प्रकाश बढ़ता ही जाता है; जीवन की अनेक ऊँची-नीची दशा नहीं झेले रहते इससे उनके अनुभव में कचाहट रहती है जिससे उनका विचार बहुधा दोष-दूषित रहता है चालीस से ऊपर पहुँचते-पहुँचते यह दोष भी निकल जाता है और सब तरह की पूर्णता आ जाती है। काम करने का यही समय है, इसलिये कि अब इनकी हर एक बात में पुख्ता विचार शक्ति, (डिशीशन) में पुख्ता आ जाती है चरित्र दूषित होने का खटका भी जाता रहता है। जिसने इस समय को खो दिया, अपने लिये तथा समाज के लिये कोई ऐसी बात न कर गुजारा जिससे प्रकृति के बड़े रोजनामचे में उसका नाम दर्ज किया जा सके उस पुरुष का जीवन व्यर्थ है। उसने मानो अपने ही को ठगा आगे चल उससे कोई काम करते की बन पड़ेगा क्योंकि अब रान्त आगे बढ़ने की कौन आशा रही जब कि शारीरिक बल मानसिक शक्ति पौरुषेय गुणों में नित्य घटाव ही होता जाता है। सच पूछो तो जो कुछ करने का समय है और जिन्होंने कुछ किया है वे इसी तीस-

पैंतीस से पैंतालीस के बीच इन दिनों जब कि इकतालीस से पचास तक में जीवन की परमावधि है औसत निकाला जाय तो सौ में पचहत्तर के लगभग इसी उमर में प्रयाण कर जाते होंगे। बाल्य-विवाह कायम रहे देखिये आगे चल तीस या पैंतीस अथवा चालीस ही परमायु रह जायगी इसी उमर को अधेड़ कहेंगे जब लोग नब्बे और सौ तक पहुँचते थे तब चालीस या पैंतालीस ठीक-ठीक उसका आधा हुआ इस समय जवानी की उमंग बल,वीर्य पुरुषार्थ सब बना रहता है चढ़ती उमर का छिछोरपन भी अब तक [illegible] आता है। चरित्र में गुरुता विचार में स्थिरता शालीनता या बुर्दबारी शील संकोच चक्रों के साथ उनका बड़प्पन का [illegible] छोटों को [illegible] का खयाल भरपूर आ जाता है। समाज में लोग भी उसे मानने और इज्जत देने लगते हैं। यदि वह शुद्ध चरित्र का है तो उसकी [illegible] बातों पर जोर आ जाता है विशेष क्या कहैं हम तो समझते हैं कि बीस या बाइस तक की उमर का पढ़ा लिखा और चालीस से पचास तक का अपढ़ दोनों समझ में एक से हैं। बल्कि लौकिक व्यवहार में पहिले की अपेक्षा दूसरा अधिक परिपक्व बुद्धि का होगा। खेद है कि हमारे यहाँ की जलवायु ने चिर-काल से सहानुभूति और आत्म त्याग (सिम्पेथी और सेल्फ सेक्रिफाइस) का लोप बहुत दिनों से चला [illegible] है ईश्वर करे जल्द ये दोनों यहाँ के जलवायु में कदाचित् आ जाँय तो निश्चय है ये लोग हमारे बड़े उपकार के हों। नई उमंग वालों में बहुधा ये दोनों गुण पाये जाते भी हैं तो चालीस या पचास तक पहुँचते-पहुँचते बिलकुल बुझ जाते हैं इस उमर तक टटके बने रहैं तो भारत के उत्थान में फिर विलम्ब न रह जाय। वाचक वृन्द, यह क्षुद्र लेख इस समय हमारी लेखिनी का [illegible] उठ आया सो निवेदन किया इसमें बहुत सी त्रुटियाँ भी होंगी उस पर ध्यान न दे यदि इसमें कोई गुण हो और कोई अच्छी शिक्षा निकलती हो तो उस त्रुटि को आप भूल जायँगे।

अगस्त; १९०८

१५—चित्त और चक्षु का घनिष्ठ सम्बंध

चित्त जिसके द्वारा चैतन्य-मात्र को बाह्य वस्तु का ज्ञान होता है उसका चक्षु के साथ जैसा घनिष्ट सम्बन्ध है वैसा दूसरी ज्ञानेन्द्रियों के साथ नहीं। दार्शनिक, जो 'दृश' धातु से बना है, दृष्टि और मन दोनों के सम्बन्ध का मानों निचोड़ है; अर्थात् वह मनुष्य जो किसी वस्तु को देख उस पर अपनी मानसिक शक्ति का जोर दे। इसी से किसी बहुदर्शी विद्वान का सिद्धान्त है कि बुद्धिमान् का चित्त चक्षु है। हम लोग प्रतिक्षण संसार के सब पदार्थों को देखा करते हैं, पर उन देखी हुई वस्तुओं पर मन को जैसा चाहिए वैसा नहीं लगाते। एक तत्व-दर्शी विद्वान का देखना यही है कि उसके नेत्र द्वारा देखे हुए पदार्थ की नस-नस में पैठ मन को काम में लाकर सोचते-सोचते उसके तत्व तक पहुँच जाते हैं। लटकती हुई चीजों का इधर-उधर झूलते सब लोग देखते हैं, पर लटकते लैम्प को हवा में झोंका खाते देख गेली-लियो के मन में एक अनोखी तान लगी। उन्होंने देर तक सोचने के उपरान्त निश्चय किया कि इस तरकीब से हम समय को अच्छी तरह नाप सकते हैं और बड़ी घड़ी के पेंडुलम की ईजाद का मूल कारण हुआ। क्षुद्र पदार्थों को देख मन को उन पर एकाग्र करना बड़े से बड़े विज्ञान और अनेक कलाओं के आविष्कार का हेतु हुआ। न्यूटन ने भी तो सेब के फल को नीचे गिरते देखा ही था, कि जिस पर चित्त को एकाग्र कर सोचते सोचते आकर्षण-शक्ति का सिद्धान्त दृढ़ किया, जिस शक्ति के बल से ब्रह्माण्ड, सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी तारा-गण, ग्रह, नक्षत्र सब अपनी-अपनी कक्षा में नियत समय में घूमा करते हैं। नितान्त अज्ञ दुधमुहे बालक को जिसकी मानसिक शक्ति अत्यन्त अल्प रहती है उस समय नेत्र ही ज्ञान का द्वार रहता है।

यही कारण है कि बालक साधारण से साधारण वस्तु को बड़े चाव से देखता है। तात्पर्य यह है कि बालक की मानसिक शक्तियों का विकास 'मैंटल डेवेलपमेंट' जैसा नेत्र के द्वारा होता है वैसा कान आदि के द्वारा नहीं। किसी चटकीली चमत्कृत बात को सुनकर जो मन में उत्सुकता पैदा होती है वह नेत्र ही के द्वारा शान्त होती है। सुनने और देखने के भाव को किसी ने नीचे के श्लोक में बड़ी चातुरी के साथ प्रगट किया है :—

श्रुत्वापि दूरे भवदीय वार्ता नेत्रौ च तृप्तौ नहि चक्षुषीमे।
तयोर्विवादं परिहर्तुकामः समागतोऽहं तव दर्शनाय॥

अर्थात् आपके उत्तम गुणों की चर्चा सुन कर कान तो तृप्त हो गये पर आँखें नहीं। जब आपकी बात चल पड़े तब कान जिन्होंने सुन रक्खा था, प्रशंसा करने लगें और आँखें जिन्होंने देख नहीं रक्खा था लड़ा करें। उन दोनों का झगड़ा मिटाने को हम आपके दर्शन को आये हैं। नल के गुण-स्तुति का नैषध काव्य में भी ऐसा ही एक श्लोक है।

अदस्तदाकर्णि फलाढ्यजीवितं दृशोर्द्वयं नस्तदवीक्षि चाफलम्।
इति स्म चक्षुःश्रवसां प्रिया नले स्तुवन्ति निन्दन्ति हृदा तदात्मनः॥

सर्प चक्षुश्रवा होते हैं अर्थात् आँख ही से देखते और सुनते भी हैं। नाग-पत्नियाँ नल का यश सुन कर प्रसन्न होती हैं और अपना जन्म सफल मानती हैं: पर देखा नहीं इससे अपने को विफल-जन्मा मान अपनी निन्दा भी करती हैं।

आग में घी छोड़ने की भाँति कभी-कभी देखने से मन और अधिक उत्सुक होता जाता है। जैसे प्रेमी को अपने प्रेम-पात्र के देखने में, सच्चे भक्त को अपने इष्टदेव के दर्शन में, एक बार, दो बार, दस बार, सौ बार, सहस्र बार जितना ही देखता जाये उतनी ही चाहें बढ़ती जायगी। फिर मन का तो आँख से ऐसा घना सम्बन्ध है कि मन

को लोग हिए की आँख कहते हैं। सूरदास ने एक विनय में कहा भी है—

"सूर कहा कहै दुविध आँधरो बिना मोल को चेरो।
भरोसो दृढ़ इन चरणन केरो"।

भगवान् न करे किसी की हिए का फूटे, जिसके फूटने से फिर किसी तरह निस्तार नहीं है। बाल्य-विवाह के शौकीनों की हिए की फूटी हैं, दुधमुहों को ब्याहने से सरासर नुकसान है, देश का देश धूर में मिल गया, फिर भी ज्ञान नहीं होता। हमारा मन यदि किसी एक बात पर एकाग्र रहे तो हजारों चीजें देखकर भी उनका कुछ स्मरण नहीं रखते; अतः निश्चय हुआ कि हृदय की आँख इस चर्म चक्षु से कितनी अधिक प्रबल है। इससे हिए की आँख से देखना ही देखना है। और इस तरह का देखना जो जानते हैं उन्हीं का ठीक-ठीक देखना है। चतुर सयाने, जिन्हें यह हुनर याद है, बाहरी आकार, चेष्टा और बोल चाल से तुम्हारे मन में क्या है, उसे चट जान लेते हैं।

"आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः"॥

ऐसों को हम मन-माणिक की कदर करने वाले और पहिचान रखने वाले जौहरी कहेंगे। मन को पवित्र या अपवित्र करने का द्वार नेत्र है। किसी पुण्याश्रम, तपोभूमि, गिरि, नदी निर्झर आदि तीर्थ विशेष में जाकर वहाँ के प्राकृतिक पवित्र दृश्यों को देखते ही या किसी जीवनमुक्त महापुरुष के दर्शन से मन एकबारगी बदल जाता है। पापी से पापी ठगों और डकैतों का हाल देखा और सुना गया है कि ऐसे लोग महात्माओं के पवित्र स्थानों में जाते ही या किसी महात्मा का दर्शन कर अपने पाप-कर्म से छुट ऋषि-तुल्य शान्त स्वभाव के हो गये हैं। लोग मन को व्यर्थ ही चञ्चल प्रसिद्ध किये हैं। चञ्चलता नेत्र करते हैं, फँसता है बेचारा निरपराधी चित्त:—

"क्यों बसिए निरवारिए नीति नेह पुर नाहिं।
लगा लगी लोचन करैं नाहक चित बँधि जाहिं॥
नैना नेक न मानहीं कितेउ कह्यो समझाय।
तन मन हारे हू हँसैं तिनसों कहा बसाय॥
दृग उरझत टूटत कुटुम्ब जुरत चतुर चित प्रीति।
परत गाँठ दुरजन हिये दई नई यह रीति॥"

किसी शायर का कौल है:—

"दीदार दिलरुबा का दीदार कहकहा है।
जो उस तरफ को झाँका वह इस तरफ कहाँ है॥"

प्रेमी के वियोग में जब ये नेत्र निराश हो बैठते हैं तब अपने सहयोगी मन को उस ओर भेजते हैं, जो दिन-रात उसकी खोज में प्रवृत्त हो जाता है। दैवयोग से प्रेमी मिल गया तो नेत्रों को ठंढक पहुँचती है; नहीं तो सन्ताप में झुलसा करते हैं।

"प्रेम वणिज कीन्हों हुतो नेह नफा जिय जानि।
अब प्यारे जिय की परी प्राण पुंजी में हानि॥"

अन्त में अपनी दशा का देखना यावत् सुधार और मन के शान्ति का हेतु है। जो अपनी दशा देख कर काम करते हैं वे सदा सुखी रहते और सङ्कट में नहीं पड़ते हैं।

दिसम्बर; १९०६

१६—मन और नेत्र

हमारे यहाँ के दार्शनिक मन को सब इन्द्रियों का प्रभु मानते हैं। उनका सिद्धान्त है हाथ-पाँव इत्यादि इन्द्रियों का किया कुछ नहीं होता यदि मन उस ओर रुजू न हो।

"मनः कृतं कृतं लोके न शरीर कृतं कृतं"

मन का सरोकार यद्यपि समस्त इन्द्रियों के साथ है पर नेत्र के साथ तो उसका सबसे अधिक घनिष्ट सम्बन्ध है। किसी बुद्धिमान का सिद्धान्त है कि अकिलमन्दों का मन आँख में रहता है। दार्शनिक यह शब्द ही दृश धातु से बना है अर्थात् वह मनुष्य जो किसी वस्तु को देख उस पर अपनी मानसिक शक्ति को जोर दे। हम सब लोग दिन-रात हर एक वस्तु संसार की देखा ही करते हैं पर उन देखी हुई चीजों पर मन को कभी जोर नहीं देते। वही बुद्धिमान जन है "कहना चाहिये देखना जिस को हो आता है" उनके नेत्र उस देखे हुए पदार्थ के नस-नस में प्रवेश कर उस पर मन को काम में लाय सोचते-सोचते उसके तत्व तक पहुँच जाते हैं। लटकती हुई चीजों को मामूली तौर पर झूलते हुये सब लोग रोज देखा करते। लटकते हुये लैम्प को इस प्रकार हवा में झोंका खाते देख गोलियों के मन में यह एक अनोखी बात बोध हुई और इस बात को देर तक सोचने के बाद उन्होंने निश्चय किया कि इस तरकीब से हम समय अच्छी तरह पर नाप सकते हैं और यही घड़ी के पैंडुलम की ईजाद का मूल कारण हुआ। अत्यन्त क्षुद्र से क्षुद्र पदार्थ का देखना ही है जिस पर मन एकाग्र हो बड़े-बड़े विज्ञान, विद्या, और कलाओं के प्रचार पाने के हेतु हुआ! नितान्त अज्ञ दुध-मुहें बालक को जब कि इसकी मानसिक शक्ति अत्यन्त अल्प

रहती है उस समय नेत्र ही ज्ञान-द्वार होता है और यही कारण है कि बालक हर एक साधारण सी साधारण वस्तु को भी बड़े चाव और अचरज के साथ ग्रहण करता है तात्पर्य यह कि बालक को (मेंटल डेवलपमेंट) मानसिक शक्तियों का प्रकाश जैसा नेत्र के द्वारा देखने से होता है उतना सुनने आदि से नहीं। किसी चटकीली चमत्कारी वस्तु को सुन जो मन में उत्सुकता या व्यग्रता पैदा होती है वह नेत्र ही के द्वारा शान्त होती है। कभी को देखने से मन और अधिक उत्सुक होता जाता है जैसा प्रेमी को अपने प्रेम-पात्र के देखने में, सच्चे भक्त को अपने इष्ट देव के दर्शन में एक बार दो बार दस बार सहस्र बार जितना ही देखते जाइये देखने की अभिलाषा अधिक-अधिक होती रहेगी जैसा आग में घी छोड़ने से आग और धधकती है।

मनुष्य के तन में एक आँख ही सार पदार्थ है और मन का तो इसके साथ ऐसा घना सम्बन्ध है कि मन को लोगों ने हिये की आँख ही मान रक्खा है। सूर ने अपने एक विनय में कहा भी है—

"सूर कहा कहै द्विविध आँधरो बिना मोल को चेरो।"

ईश्वर न करे किसी की हिये की फूटे, हिये की फूटने से फिर किसी तरह पर निस्तार नहीं है। हमारे देश वालों के हिये की फूटी है हम लोग सौ बार सहस्र बार कहते-कहते थक गये इन्हें चेताने और हिये की खोलने के लिये भरसक यत्न करने में त्रुटि नहीं करते पर इनके चित्त में उसका अणुमात्र भी असर नहीं होता। हमारा मन यदि किसी एक वस्तु में एकाग्रता के साथ लगा है तो उस समय हम हजारों चीजों को देख कर भी उनका कुछ स्मरण नहीं रखते। इससे सिद्ध हुआ कि हृदय की आँख हमारे चर्म-चक्षु से कितना अधिक प्रबल है; तत्पश्चात् हिये की आँख से जो देखना है और इस तरह का देखना जिन्हें मालूम है वे ही ठीक-ठीक देखना जानते हैं। चतुर सयाने जिन्हें इस तरह के देखने का हुनर याद है बाहरी आकार

चेष्टा बोल-चाल और इशारे से मनुष्य का अन्तर्गत मन जान लेते हैं और मन-मानिक की कदर जानने वाले और परखने वाले जौहरी भी ऐसे ही लोग हैं। मन के पवित्र या अपवित्र करने का द्वार नेत्र है। किसी पुण्याश्रम तपोभूमि, गिरि, नदी, निर्झर आदि तीर्थ-विशेष में जाकर वहाँ के प्राकृतिक पवित्र दृश्यों को देखते ही या किसी जीवन्मुक्त महापुरुष के दर्शन से मन एक बारगी बदल जाता है। बड़े-बड़े महा-पापी ठग और डकैतों का हाल देखा और सुना गया है कि ऐसे लोग पवित्र स्थान में जाते ही या किसी पुण्यशील महात्मा से मिल कर सदा के लिये अपने उस पाप कर्म से अलग हो गये, महाशान्ति भाव धारण कर ऋषि तुल्य बन गये हैं। लोग मन को नाहक चञ्चल-चञ्चल कह कर प्रसिद्ध किये हैं चाञ्चल्य नेत्रों का रहता है, भुगता है निरपराधी मन बेचारा।

> क्यों बसिये क्यों निबाहिये नीति नेह पुर माहिं।
> लगा-लगी लोयन करैं नाहक मन बँधि जाहिं॥
> दृग उरझत, टूटत कुटुम्ब, जुरत चतुर चित प्रीति।
> परति गाँठ दुरजन हिये, दई, नई यह रीति॥
> नयना नेक न मानहीं कितौ कह्यो समुझाय।
> तन मन हारे हूँ हँसै तासौं कहा बसाय॥

सच मानिये, मन महा अमीर को बहका कर आशिकी के पन्थ में ले जाने वाले ये लोचन कुटने दूत हैं जो इसे इश्क के जाल में फँसा कर फिर किसी काम का नहीं रखते। किसी शायर ने कहा है:—

> दीवार दिलरुबा का दीवार कहकहा है।
> जो उस तरफ को झाँका वह इस तरफ कहाँ है॥

फिर जब प्रेमी के वियोग में ये निरास हो बैठते हैं उस समय मन से अपने सहयोगी नेत्रों की तरस नहीं सही जाती, विकल हो सब ओर से दिन-रात एक उसी की खोज में प्रवृत्त हो जाता है। खान-पान तक

छूट जाता है, दैवयोग से प्रेमी मिल गया तो अच्छा, नहीं तो जीने से भी हाथ धो बैठता है; सच है:—

प्रेम बनिज कीन्हों हुतो नेह नफा जिय जानि।
अब प्यारे जिय की परी प्रान पुंजी में हानि॥

अपनी दशा का देखना मनुष्य के लिये यावत् सुधार और मन को अनोखी शान्ति का हेतु है। जो नाक निगोड़ी के कट जाने का भय छोड़ अपनी दशा देखकर काम करते हैं वे सदा सुखी रहते हैं और कभी सङ्कट में नहीं पड़ते।

सर्वथा स्वाहितमाचरणीयं किंकरिष्यति जनो बहु जल्पः।
विद्यते न खलु कोपि उपायः सर्वलोकपरितोषकरो यः॥

अनेक प्रचलित कुसंस्कारों में हमारे समाज के बीच नाक कट जाने का भय भी ऐसी बड़ी बुराई है कि इससे न जानिये कितने घराने धूर में मिल गये। जब तक हम अपनी दशा न देख इसी तरह नाक बढ़ाते रहेंगे तब तक कभी किसी लायक न होंगे। हम अपने से कम सुखी लोगों को देख उनकी दशा से अपनी दशा में तारतम्य देखते रहें तो दुख कभी पास न फटके और चित्त सदा के लिये शान्ति देवी का पवित्र मन्दिर बन जाय। हमने मन और नेत्र का सम्बन्ध दिखलाया इसमें जो कुछ त्रुटि रह गई हो पाठक जन सम्हाल लें।

— अप्रैल; १८६०

१७—मन के गुण

भगवान् कृष्णचन्द्र ने गीता में मानस तप को लक्ष्य कर मन के गुण इस भाँति कहा है :—

> मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
> भाव संशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

मनःप्रसाद अर्थात् मन की स्वच्छता, सौम्यता या सौमनस्य जो बहुधा तभी होगा जब बाहरी विषयों की चिन्ता से मन व्यग्र और आकुल न हो। बाहर से विनीत और सौम्य बनना कुछ और ही बात है मन का सौम्य कुछ और ही है। उसकी बड़ी पहचान एक यह भी है कि वह किसी का अनिष्ट न चाहेगा वरन् सबों के हित की इच्छा रक्खेगा। तीसरा गुण मन का श्रीकृष्ण भगवान् ने मौन कहा है मौन अर्थात् मुनि-भाव—एकाग्रता पूर्वक अपने को सोचना कि हम कौन हैं जिसका दूसरा नाम निदिध्यासन भी है। वाक् संयम न बोलना या कम बोलना भी मन के संयम का हेतु है। मुनि भाव का लक्षण श्रीमद्भागवत में इस तरह पर दिया गया है :—

> मुनिः प्रसन्नो गंभीरो दुर्विगाह्यो दुरत्ययः।
> अनन्त पारो ह्यक्षोभ्यः स्तिमितोद इवार्णवः॥

मुनि वह है जो सदा प्रसन्न अर्थात् विमल चित्त हो, गंभीर अर्थात् जिसकी थाह लेना सहज काम न हो, न जिसका पार किसी ने पाया हो जिसे कोई क्षुब्ध चलायमान न कर सके, ये सब गुण स्थिर सागर के हैं, सागर के सदृश जिसका मन हो वह मुनि कहा जा सकता है, मौन से सब बातें आदमी में आ सकती है। आत्म विनिग्रह अर्थात् मन जो सदा चंचल है उसे वृत्तियों के निग्रह करने से रोकना। सबसे बड़ी बात

भाव संशुद्धि अर्थात् लोगों के साथ बर्ताव में माया, कपट, कुटिलता, छल-छिद्र का न होना। अथवा क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य जो मन को मैला करने की बड़ी सामग्री हैं उनसे दूर रहना इत्यादि सब मन के गुण हैं। उन्हीं को मानस तप भी कहेंगे। मन के और भी गुण सहानुभूति, आश्चर्य, कुतूहल पूर्वक जिज्ञासा, प्रेम, बुद्धि या प्रतिभा, विचार या विवेक आदि है। सहानुभूति यद्यपि मन की सौम्यता के अन्तर्गत है किन्तु सहानुभूति का लेश मात्र भी अंकुरित हो चित्त में रहना जन समाज के लिये बड़ा उपकारी है। उपकार के प्रति उपकार सहानुभूति न कहलावेगी वरन् वह तो एक प्रकार का दूकानदारी और लोक-रंजन है। सच्ची सहानुभूति वही है कि हम अपने सहचारी या साथी को दुखी देख दया मन में लाय उसके दुख दूर करने में तन, मन, धन से प्रवृत्त हों। हमारे यहाँ इन दिनों सहानुभूति का बड़ा अभाव है। इसी कारण हम नीचे गिरते जाते हैं। अँगरेजी शिक्षा के अनेक गुणों में यह भी एक उत्कृष्ट गुण है कि अच्छा पढ़ा-लिखा अपने हम-वतन दोस्तों के साथ हमदर्दी करने में नहीं चूकता। अनेक प्रकार के दान इसी बुनियाद पर रक्खे गए हैं कि सहानुभूति वाले मानसिक गुण में पुष्टता पहुँचे। किन्तु वह अब केवल यश प्राप्ति के लिए रह गया। इसमें संदेह नहीं, अन्न का दान जितना हमारे यहाँ दिया जाता है किसी देश में इतना नहीं दिया जाता पर सहानुभूति की बुनियाद पर न रहने से बे-फायदा है और राख में होम के बराबर है।

आश्चर्य और कुतूहल दोनों सीधे और भोले चित्त के धर्म हैं। लड़कों को छोटी-छोटी बातों पर कुतूहल होता है और चित्त का कुतूहल दूर करने को वह अनेक ऐसे प्रश्न करता है जिस पर बहुधा हँसी आती है। तो कुतूहल ज्ञान की वृद्धि का एक द्वार ठहरा। लड़का पाँच वर्ष की उमर तक में जो कुछ सीखता है वह तमाम जिन्दगी भर में नहीं सीखता। ज्यों ज्यों वह बढ़ता जाता है और चित्त की सिधाई कम होती जाती है उसकी जिज्ञासा भी घटती जाती है। प्रेम भी सहानु-

भूति ही का एक रूपान्तर है। प्रतिभा, प्रतिपत्ति, संवित् आदि शब्द लगभग एक ही अर्थ के बोधक हैं और ये सब बुद्धि के धर्म हैं मन के नहीं। किन्तु मन पर उन सबों का असर पहुँचता है इसलिये हम उन्हें मन के अनेक गुणों में मानते हैं। ऐसे ही विवेक और विचार भी बुद्धि के धर्म हैं किन्तु विचार के द्वारा बुद्धि के तराजू पर हम उसे तौलते हैं, जो कुछ परिणाम उस तौल का होता है उसे मन में स्थिर कर तब आगे बढ़ते हैं। मन यद्यपि ज्ञान का आश्रय है पर उस ज्ञान को सत् या असत निर्णय करा देना बुद्धि ही का काम है इसलिये विवेक और विचार के बिना निश्चयात्मक ज्ञान कभी होगा ही नहीं। मन जो बड़ा चञ्चल है उसका चांचल्य रोकने का विचार बड़ा उपयोगी है इसलिए ऊपर के श्लोक में कथित आत्म विनिग्रह के ये सब अंग हुए। आत्म विनिग्रह जिसका दूसरा नाम संयम भी है मनुष्य में पूरा-पूरा हो तो सिद्धावस्था तक पहुँचने में फिर अड़चन क्या रहा। दूसरे यह कि संयमी को कठिन से कठिन काम करना सुगम होता है। सारांश यह कि ऊपर कहे हुए मन के सब गुण पारलौकिक या आध्यात्मिक उन्नति के साधन करने वाले तो हई हैं हमारी इस लोक की उन्नति भी उनसे पूरी-पूरी हो सकती है। इन सब उत्कृष्ट गुणों में एक भी जिसमें हो, वह मनुष्यों में श्रेष्ठ और ऊँचा दरजा पाने का अधिकारी अवश्य बन सकता है।

—मार्च: १८९८

१८—सुनीति-तत्व-शिक्षा

जैसे प्रकृति के नियमों के विरुद्ध चलने से, विरुद्ध खान-पान आदि से जलवायु-कृत अनेक शारीरिक रोग पैदा होते हैं जो देर तक शरीर को क्लेश पहुँचाते हैं; वैसे ही सुनीति तत्व शिक्षा "मॉरल-ला" सम्बन्धी नियमों के तोड़ने से भी रोग होते हैं पर यह रोग उस तरह के नहीं हैं जो शरीर को क्लेश दें या बाहरी निदानों से उनकी पहचान की जा सके। देर तक शबनम में बैठे रहिये प्रकृति के नियम आपको न छोड़ेंगे जरूर सरदी हो जायगी कई दिनों तक नाक बहा करेगी और विरुद्ध आचरण करते रहो ज्वर आ जायगा सर-दर्द पैदा हो जायगा अखबारों पड़े-पड़े खटिया सेवते रहोगे। वैसे ही सुनीति विरुद्ध चलने से "मॉरल-ला" आपको न छोड़ेंगे। कितनों को हौसिला रहता है बुढ़ापे तक जवानी की ताकत न घटे इसलिये तरह-तरह के कुश्ते भाँति-भाँति के रस, पौष्टिक औषधियाँ सेवन करते हैं। खूबसूरती बढ़ाने को खिजाब लगाते हैं, पियर्स सोप, ओटोडेन आदि काम में लाते हैं। सेरों लवेंडर तरह-तरह के इत्र मला करते हैं जिसमें सौन्दर्य और फैशन में कहीं से किसी तरह की त्रुटि न होने पावे। किन्तु हमने कहीं जिकिर भी न सुना कि सुनीति-तत्व सम्बन्धी सौन्दर्य (मॉरल ब्यूटी) सुनीति के नियमों पर चलने का बल (मॉरल स्ट्रेंग्थ) क्या है उसको कैसे अपने में लावें, उसे कैसे बढ़ावें?

जैसे सौन्दर्य और शारीरिक बल बढ़ाने की चिन्ता में लोग व्यग्र रहते हैं वैसे यह कभी सुनने में आया कि हम में डाह, मात्सर्य, पैशुन्य, जाल, फरेब, बेईमानी, लालच, द्रोह-बुद्धि किस अन्दाज से है उसमें से कुछ कम हो सकता है और कितने दिनों की मेहनत में किस कदर कम हो सकेगा? हम समझते हैं जिस बात पर अपने पढ़ने वालों

का ध्यान हम लाया चाहते हैं उसमें ऐसे ही कोई बिरले बड़े बुद्धिमान धनी-मानी या प्रभुता वाले होंगे जिनको अपने "मॉरल्स" सुनीति-तत्व के सुधारने और बढ़ाने की कभी को कुछ चिन्ता हुई होगी। सच तो यों है कि वास्तविक सुख बिना इस पर ख्याल किये हो ही नहीं सकता। हमारे मॉरल्स बिगड़े रहें और उस दशा में वास्तविक सुख की आशा वैसा ही असंभव है जैसा बालू से तेल का निकालना असंभव है। वैभव प्रभुता या संसार की वे बातें जो इज्जत और सरतबा बढ़ाने वाली मान ली गई हैं जिन के लिये हड्डी के एक टुकड़े के वास्ते कुत्ते की भाँति हम ललचा रहे हैं वे सब उसको अति तुच्छ हैं जो अपने "मॉरल्स" का बड़ा पक्का है। जो आनन्द इसमें मिलता है वह उस सुख के समान नहीं है जैसा विषय-वासना के सुख का क्रम देखा जाता है क्योंकि विषय-वासना के सुख उसके लिए कोशिश करने वाले की पहुँच के भीतर हैं पर सुनीति-तत्व सम्बन्धी अलौकिक सुख हमारी पहुँच के बाहर है। लाखों इस सुख के शिखर तक चढ़ने की कोशिश करते हैं पर कोई एक ही दो इसकी चोटी तक पहुँचता है।

सुनीति तत्व के सिद्धान्तों पर लक्ष्य किये और प्रतिक्षण अपने दैनिक जीवन में उनका पालन करते हुये बुद्धि के आंकुस से प्रेरित हो मनुष्य इस आनन्द का अनुभव कर सकता है पर इन लोहे के चनों का चबाना सर्वसाधारण के लिये सहज नहीं है किन्तु इसके अधिकारी वे ही हो सकते हैं जिनको इनकी कोशिश ही गहल है। जिनकी आभ्यन्तरिक शान्ति की दशा के सामने बड़ी-बड़ी बादशाहत भी मूल्य में कम है। जो अपने सिद्धान्तों के बड़े पक्के हैं उनसे एक बार किसी ने पूछा—साहब आपको दुनिया में औकात बसरी का क्या सहारा है? जवाब दिया अकिल; आप लोग विषय-वासना-लंपट हो दुनियावी सुख की गुलामी के पीछे दौड़ रहे हो मैं उसी को अपना गुलाम किये हुये हूँ। तब यह पूछना ही व्यर्थ है कि आपको अपनी प्राण-यात्रा "औकात बसरी" का क्या सहारा है। सच है,—

आशाया: खलु येदासास्ते दासा जगतामपि ।
आशादासी कृतं येन तेन दासी कृतं जगत् ॥
अश्नीमहि वयं भिक्षां आशा वासो वसीमहि ।
शयीमहि महीपृष्ठे कुर्वीमहि किमीश्वरैः ॥

सुकरात, अफलातूं, अरस्तू, तथा अक्षपाद, कणाद, गौतम सरीखे दार्शनिक बुद्धिमानों के पास जो रत्न था और जिस सुख के घनानन्द का अनुभव उन्हें था वह उसे कहाँ जो धन संपत्ति तथा सांसारिक विषय-वासना की जहरीली चिन्ता से अहर्निश पूर्ण रहता है ।

जुलाई; १८८६

१६—आदि मध्य अवसान

सकल सर्जित पदार्थ जो वेदान्त दर्शन के सिद्धान्त अनुसार जीव कोटि में गिने गये हैं और जिनका जीव कोटि से किसी तरह का सम्बन्ध है उनकी आदि, मध्य, अवसान यह तीन अवस्था है। इन तीन अवस्थाओं में आदिम और मध्यम अवस्था सदा स्पृहणीय और मन को हरने वाली है। अवसान अर्थात् अन्तिम अवस्था ऐसी ही किसी की सोहावनी होती है वरन् अन्त की अवस्था बड़ी घिनौनी; रूखी और किसी के उपकार की नहीं होती।

आरम्भ या आदि हर एक का बहुत कुछ आशा-जनक और मन-भावना होता है, मध्यम या प्रौढ़ अवस्था उसी आशा को फलवती करने वाली होती है। पौधा जब लगाया जाता है या बीज जब प्रस्फुटित हो प्ररोह के रूप में रहता है उस समय कटीले वृक्ष भी सुहावने लगते हैं। प्रौढ़-अवस्था कुसुमोद्गम के उपरान्त फलों से लद जाने की है। पुराना पड़ने पर वही पेड़ जब कम फलने लगता है बाग के माली को उसके बढ़ाने या सींचने की वैसी मुस्तैदी नहीं रहती जैसी नये पौधों के लिए। जीवधारियों में देखो तो दुधमुँहा शिशु मनुष्य का हो या किसी जानवर तथा चौपायों का हो ऐसा प्यारा लगता है कि यही जी चाहता है कि नेत्र उसकी मुग्ध मुखच्छवि को अनिमेष दृष्टि से देखता ही रहे। वही तरुणाई की प्रौढ़ अवस्था आते ही जवानी की नई उमंग में भरा हुआ दर्पान्ध कोई कैसा ही कठिन काम हो उसमें भिड़ जाता है और जब तक कृत कार्य न हो उससे मुँह नहीं मोड़ता। नस-नस में जब कन्दर्प अपना चक्रवर्तित्व स्थापित कर देता है तब कुरूप भी सुरूप, निर्जीव भी सजीव बोध होता है। सुषमा की यावत् सामग्री सब सोलहो कला पूर्ण हो जाती है। लुनाई और सलोनापन अपनी को पहुँच जाता है। कहा भी है,—

"प्राप्ते च षोडसे वर्षे शूकरीप्यप्सरायते"

यही समय ऐसे अल्हड़पने का होता है कि इसमें यावत् प्रलोभन सब उमड़-उमड़ इधर ही आ टूटते हैं। इस तरुणाई की कसौटी में कस जाने पर जो कहीं से किसी अंश में न डिगा तो चरित्र की विजय वैजयन्ती उसी के गले का हार होती है। अवसान में जब यह प्रौढ़त्व विदा हुआ तब वह सलोनापन न जाने कहाँ जा छिपता है? गाल चुचक जाते हैं बगुला की चोंच-सी लम्बी नासिका; खोड़हा मुँह; सूप से लम्बे-लम्बे कान; गंजा सिर कैसा बिलखावना मालूम होता है कि प्रेत के आकार सदृश देखते भय उपजता है। शुष्क-चर्म-पिनद्ध-अस्थि-शेष-कंकाल वीभत्स का साक्षात्कार—सा किसमें न बिभीषिका और घृणा पैदा करता होगा।

ऐसा ही हमारे प्राचीन आर्यों की सभ्यता का जब उदय था उस समय उसकी बाल्य-अवस्था थी उस समय जो-जो प्राकृतिक घटनायें (नेचुरल फिनेमैना) उनके दृष्टि-पथ की पहुनाई में आईं उन्हें दैवी-गुण-विशिष्ट मनुष्य शक्ति बाह्य और इन्द्रियातीत समझ ईश्वर मान उनकी स्तुति करने लगे। जैसा ऋग्वेद में (डॉन) उषा को देवी कह उसकी कमनीय कोमल मूर्ति के वर्णन में कवित्व-प्रतिभा को छोर तक पहुँचा दिया। इसी तरह सूर्य में गरमी और उसका विशाल बिम्ब (होरीजन) क्षितिज से ऊपर को उठते देख, सूर्य की गरमी और प्रकाश से पौधों को उगते और बढ़ते हुये पाय चिरकाल तक तमारि सूर्य ही का सविता, अर्यमा आदि विशेषण पदों से गुण गान करते रहे। "उद्वयं तमसस्परिस्व:" इत्यादि कितनी ऋचायें हैं जिन्हें सन्ध्योपासन के समय हम नित्य पढ़ा करते हैं। इसी तरह मेघमाला में चपला-सौदामिनी विद्युत की चमक-दमक देख ऐरावत् और इन्द्र इत्यादि की कल्पनाओं से उनमें दैवी शक्ति का आरोप कर उन-उन घटनाओं का अनेक गुण गान करते रहे। पीछे जब उनकी सभ्यता अपनी प्रौढ़ दशा में आई तो आत्मा तथा सृष्टि के आदि कारण का

जैसा उन्होंने पता लगाया वैसा अब तक न किसी प्राचीन जाति को सूझा, न ऐसी आध्यात्मिक उन्नति के शिखर पर कोई आधुनिक सभ्य जाति पहुँची। दर्शन शास्त्रों की जुदी-जुदी प्रक्रिया; संस्कृत-सी लोकोत्तर परिष्कृत भाषा; संगीत, कविता आदि अनेक कौशल का आविष्कार और उनकी परिमार्जित की गई। (सिम्पिल लिविंग ऐण्ड हाई थॉट्स) साधारण जीवन और उत्कृष्ट विचार इन्हीं आर्यों में पाया गया। अब उस सभ्यता का अवसान है। पहले यावनिक-सभ्यता ने इसका दलन किया सब तरह पर इसे चूर-चूर कर डाला अब विदेशी सभ्यता इसे पराभव देते हुये देश में सब ओर अपना प्रकाश कर रही है। वैदिक सभ्यता का अवसान होने से उनके मूल आधार ब्राह्मण ब्राह्मत्व से च्युत हो गये, चातुर्वर्ण्य तथा चार आश्रम की प्रथा छिन्न-भिन्न हो गई, संस्कृत का पठन-पाठन लुप्त-प्राय हो कहीं-कहीं थोड़े से ब्राह्मणों ही में रह गया। आधुनिक सभ्यता और नूतन शिक्षा जो इस समय अपनी प्रौढ़ अवस्था में है उसका पहिला उद्देश्य यही है कि जहाँ तक जल्द हो सके ऊपर कहे मूल आधारों का कहीं नाम-निशान भी न रहने पावे। जिस घराने में दस पुश्त से अविच्छिन्न पठन-पाठन संस्कृत का रहा आया और एक से एक दिग्गज पण्डित और ग्रन्थकार होते आये वहाँ अब अँगरेजी जा घुसा। उस कुल के विद्यमान वंशधर अब ब्राह्मण बनने में शरमाते हैं। अपने को पण्डित कहते या लिखते झकते हैं। मिस्टर या बाबू कहने में अपनी प्रतिष्ठा समझते हैं। कहीं-कहीं तो यहाँ तक संस्कृत का लोप देखा जाता है कि उनके घर की पुरानी पुस्तकें दीमक चाट गये। लड़कों में एक भी इस लायक न हुआ कि साल में एक बार पुस्तकों के बस्तों को खोलता और उन्हें उलट-पुलट धूप दे रखता। नूतन सभ्यता यहाँ तक पाँव फैलाये हुये है कि वे जो पुराने क्रम पर हैं बेअकिल समझे जाते हैं, सभ्य समाज में उनकी हँसी होती है।

हम ऊपर कह आये हैं अवसान भी किसी-किसी का सोहावना

होता है, जैसा शीतकाल का अवसान। पूस-माघ के जाड़ों में ठिठरे हुओं को फागुन के सुहावने दिन कैसे भले मालूम होते हैं। ऐसा ही जेठ मास की तपन के उपरान्त जब बरसात आती है और वर्षा के उपरान्त शरद। जाड़ा, गरमी, बरसात इन तीनों की मध्य अवस्था या प्रौढ़त्व किसी को नहीं रुचता आदि और अवसान सभी चाहते हैं। किसी उत्सव या तिहवार का आगमन या मध्य भाग बड़े खुशी का होता है अन्त नहीं। अँगरेजी राज्य का आदि बड़े सुख का रहा प्रौढ़ता सब तरह दुखदायी हो रही है। सुहृद, सरल-चित्त मित्र के समागम का आदि और मध्य बड़ा सुखदायी है अन्त या बिछोह शोक बढ़ाता है। गीता में भगवान् ने उत्तम उसी को ठहराया है जो आदि, मध्य, अवसान तीनों में सुखद हो, जिसका आदि और मध्य तो अच्छा हो पर परिणाम में दुःख मिले वह राजसी और तामसी है। आदि मध्य अवसान तीनों में जो एक से रहते हैं विमल ज्ञानियों में वही है। आदि और मध्य चाहे जैसा रहा अन्त बना तो सब बना कहा जाता है।

जून, १९०४

२०—स्थिर अध्यवसाय या दृढ़ता

अनेक मानसिक शक्तियों में अध्यवसाय या दृढ़ता भी मन की एक अद्भुत शक्ति है और मनुष्य के प्रशंसनीय गुणों में उत्कृष्ट गुण है। यह दृढ़ता स्वाभाविक होती है पर अधिकतर विद्या, अभ्यास या कल्चर के द्वारा आती है। स्वाभाविक दृढ़-चित्त को निस्सन्देह विद्या से बड़ा लाभ यह होता है कि वह विद्या का फल विवेक को काम में लाय बुराई की ओर अपने दृढ़ संकल्प को नहीं झुकने देता न दुःसंग का असर उस पर व्यापता है। मूर्ख नासमझ का दृढ़ निश्चय हठ में परिणत हो जाता है। हठीले का हठ कभी तो अतीव भयंकर होता है और यदि कहीं वह ज्ञान-लव-दुर्विदग्ध हुआ, अर्थात् न वह पूर्ण विद्वान् है न निरा मूर्ख या जाहिल है, अधकचरा है,

'जैक आफ आल ट्रेड मास्टर आफ नन'

ऐसे को तो, भर्तृहरि लिखते हैं ब्रह्मा भी समझा के राह पर नहीं ला सकते तब मनुष्य किस गिनती में है?

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलव-दुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रंजयति ॥

कहाँ और ठौर तानाजी पानके मन की दृढ़ता का यह एक दूसरा अनोखा दृष्टान्त है। जब यह बात है तो दृढ़ चित्त वाले अपनी ऊँची समझ और ऊँचे ख्यालात से दुर्बल चित्त वाले को ऐसा अपने वश में कर लेते हैं कि राजा अपनी चतुरंगिणी सेना साज कर भी वैसा जल्द लोगों को आधीन नहीं कर सकता। वक्ता के लिए चित्त की दृढ़ता बड़ी उपकारी है, दृढ़ मन वाला वक्ता मधुकर के समान ज्ञानी अज्ञानी प्रत्येक के मन में प्रवेश कर और प्रत्येक के मनोमुकुल का मधु निकाल-निकाल जगत् को बहुत कुछ लाभ पहुँचा सकता है। दृढ़ मन वाला

यह लोक या परलोक सम्बन्धी जो कुछ काम करेगा उसमें पूरी तरह कृत-कार्य होगा। स्थिर अध्यवसाय के साथ मनोनियोग के अभ्यासी के आगे विघ्न हवा में धूलि के समान दूर उड़ा करते हैं। क्योंकि उसको तो अंगीकार्य के अन्त तक पहुँचने की बँधी है।

"विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति"

जो मनुष्य से महत्व की बड़ी भारी पहचान निश्चय की गई है। योगियों में योग और क्या हो सकता है यही स्थिर अध्यवसाय। हमारे पूर्वज ऋषिगण अपने स्थिर अध्यवसाय में दृढ़ रह न जानिये कितनी लोकोत्तर अद्भुत बातें कर गुजरे। आधुनिक शिक्षित मंडली में विश्वामित्र ऐसे तपस्वियों के काम यदि निरी कल्पना और किस्सा माने जाँय तो भी यह स्थिर अध्यवसाय और दृढ़ निश्चय का पूरा उदाहरण तो अवश्य कहा जायगा। आदमी में दृढ़ता होनी चाहिए तब वह क्या नहीं कर सकता? साथ ही इसके इतना अवश्य ध्यान रहे कि जिस बात के लिए वह उद्यत हुआ है वह अनुचित या गलत नहीं है। हम गलती में न पड़े हों और अपने इरादे के मजबूत और पक्के हों तो कभी मुमकिन नहीं कि कामयाबी न हासिल कर सकें। हमारे पढ़ने वाले "स्माइल्स आन कैरेक्टर", "क्रेक्स परसुट्स आफ नालेज" में इसके अनेक उदाहरण पा सकते हैं। इतिहासों में मुगल बादशाह बाबर ऐसे अनेक विजयी लोगों के उदाहरण पाये जाते हैं जिन्हें पढ़ कैसा ही दुर्बल चित्त और कम हिम्मती हो साबित कदमी और दृढ़ता प्राप्त कर सकता है। एक बड़ा उत्तम उदाहरण स्थिर निश्चय का महाकवि भारवि ने किरातार्जुनीय के ग्यारहवें सर्ग में दिया है। तपस्या से महादेव को प्रसन्न कर शस्त्र-विद्या प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले अर्जुन की परख करने को मुनि का वेष धर आये हुये इन्द्र के प्रति अर्जुन ने कहा है—

"विच्छिन्नाभ्रविलायंवा विलीये नगमूर्द्धनि।
आराध्य वा सहस्राक्षमयशः शल्यमुद्धरे॥"

हवा के झकोर से छिन्न-भिन्न हुये मेघ के समान मैं इसी पर्वत पर जहाँ तपस्या कर रहा हूँ, या तो बिलाय जाऊँगा या इन्द्र को प्रसन्न कर उनसे अस्त्र-शस्त्र पाय इस कलंक को दूर करूँगा कि युद्ध में शत्रुओं से जुआ में हारे हुए राज्य को न लौटा सका। और भी—

"वंशलक्ष्मीमनुध्दृत्य समुच्छेदेन विद्विषाम् ।
निर्वाणमपि मन्येहमन्तरायं जयश्रियः ॥"

शत्रुओं का नाश कर वंश-परम्परा-प्राप्त राज्य लक्ष्मी को बिना पाये मोक्ष सुख को भी मैं जय-श्री की प्राप्ति का एक विघ्न मानता हूँ। मोक्ष-पद जो सबसे बढ़ कर है वह अर्जुन के दृढ़ निश्चय में जय के मुकाबिले तुच्छ था। तब संसार के क्षुद्र-सुखों की क्या गणना थी, इत्यादि कितने और भी उदाहरण इसके पाये जाते हैं।

अक्टूबर १८९९

२१—महत्व

हमारे देश की वर्तमान् बिगड़ी दशा के अनुसार खास कर इस अंगरेजी राज्य में महत्व केवल धन में आ टिका है पर बुद्धिमानों ने जैसा तय कर रक्खा है उससे सिद्ध होता है कि धन महत्व-संपादन का प्रधान अंग नहीं है वरन् उसका एक बहुत छोटा सा जुज़ है। कुल "खान-दान" अलबत्ता बड़ा भारी अंग है इसलिये कि कुलीनों में महान् बहुत अधिक होते आये हैं और हो भी सकते हैं। कुल मानो महत्व के इत्र बनाने की एक जमीन है जिस पर जैसा चाहो वैसा इत्र खींच ले सकते हो। जिस तरह का महत्व चाहते हैं वैसा इस कुलीनता की भूमिका पर संपादित हो सकता है। दूसरा अंग चरित्र है। पालन में जो साव-धान हैं वे काल पाय महान क्या बल्कि महत्तर हो सकते हैं। तीसरा अंग औदार्य है। अनेक दोष-दूषित भी दान-शील देने वाला उदार चित्त हो तो उसके दोषों की उपेक्षा कर सबी उसके अनुयायी और प्रशंसा करने वाले होंगे।

किं दातुरखिलैर्दोषैः किंलुब्धस्याखिलैर्गुणैः।
न लोभादधिको दोषो न दानादधिको गुणः॥

देने वाले में एक दातृत्व गुण के सिवाय सब दोष ही दोष हों उन दोषों से क्या और लोभी कदर्य सूम में सब गुण ही गुण हों तो कदर्यता ऐसा भारी दोष है कि उसके गुणों की कदर नहीं होती तो निश्चय हुआ कि लोभ से अधिक कोई दूसरा दोष नहीं और देने से अधिक कोई गुण नहीं। और भी—

"दोषा अपि गुणायन्ते दातारं समुपाश्रिताः।
कालिमानं किलाासाद्य कालमेघ इतिस्तुतिः॥"

दाता का आसरा लै दोष भी गुण हो जाते हैं जैसा मेघ में काला-पन भी काले मेघ ऐसा स्तुति-पक्ष में ग्रहण कर लिया जाता है। यश संसार में चाहता हो तो दानशील हो। सिद्धान्त है "न दाने न बिना यशः"। दृढ़ता, स्थिर निश्चय, निराकुलत्व, हर्ष-शोक में एक भाव, सब महत्व के चिन्ह हैं।

"उदेति सविता रक्तो रक्त एवास्तमेति च—
संपत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता"॥

सूर्य उदय के समय में रक्त वर्ण होते हैं, वैसा ही अस्त में भी—तो निष्कर्ष यह हुआ कि बढ़ती और घटती दोनों में एक-सा रहना बड़प्पन की निशानी है। सबसे बड़ा महत्व उसका है जो परोपकारी है जैसा बंगाल में विद्यासागर महाशय हो गये। नीचा काम, नीचे ख्याल की ओर जो कभी प्राणपण के साथ भी मन न दे सच्चा महत्व उसी का है। महत्व का निबहना सहज बात नहीं। अनेक बार की कसौटी में कसे जाने पर जो असिधाराव्रतलेहन "तलवार की धार को जीभ से चाटना" रूप व्रत में पक्का ठहरता है उसी को सर्वसाधारण महान् की पदवी देते हैं। सब से सिरे का महत्व उसी का माना जायगा जो अपनी हानि सह कर भी देश के उद्धार में लग रहा है। पर भारत में इसकी बड़ी त्रुटि है। योरोप के प्रत्येक देशों की अपेक्षा यहाँ ऐसे मनुष्य बहुत कम हैं। अपना स्वार्थ छोड़ परार्थ साधन करने वाले सत्पुरुष तो बिरले देश में कोई एक दो हों या न हों। केवल अपना ही पेट न भर 'गेहूँ के साथ बथुआ सींच जाते' वाली कहावत की भाँति भी परार्थ साधक नहीं है। हाँ ऐसे अलबत्ता बहुत हैं जिनके बारे में यह कहावत चरितार्थ होती है:—

"काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते"—

अगस्त, १८८६

२२—मानना और मनाना

सुख दुःख का हम अभी वर्णन कर चुके हैं कि सुख क्या है और क्यों होता है ऐसा ही उसके जो विरुद्ध वह दुःख है। किन्तु इन दोनों सुख और दुःख का अंकुर बीज रूप हो मनुष्य मात्र के चित्त रूपी थावले में बोया जाता है और यह बीज अँकुराने पर मानना और मनाना इस नाम से प्रचलित होता है। सुख, दुःख क्या वरन् संसार के यावत् कारखाने सब इसी मानने-मनाने पर हैं। प्रबल-इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान से प्रेरित हो हम हर एक बातों को अपने अनुकूल या प्रतिकूल वैसा मान लेते हैं, वास्तव में वे सब मान लेने की बातें हैं; असलियत उनकी कुछ नहीं है। मानने में भी कितनी बातों को हम मनाये जाते हैं लाचार हो उन्हें उस तरह पर मानना पड़ता है। जैसा अपने स्वामी की आज्ञा, हाकिम का हुक्म जीविका पाने की इच्छा से या सजा पाने की डर से मानना पड़ता है। कितनी बातों को कर्तव्य, कर्म, फर्ज, ड्यूटी; बान्ड या धर्म समझ हमें मानना पड़ता है। जैसा, स्त्री को अपने पति की, शिष्य को गुरु की, पुत्र को माता-पिता की आज्ञा मानना कर्तव्य-कर्म में दाखिल है, इसलिए मानना ही पड़ता है। कभी-कभी हमारे मानने में भूल रहती है उसे भ्रम या भ्रान्ति कहते हैं, जैसा रसरी में सर्प की भ्रान्ति, शुक्ति में रजत की, मृग-तृष्णा में जल की, इत्यादि।

विश्वास भी इसी मानने का दूसरा नाम है। कितने ऐसे सरल और सीधे जी के होते हैं कि उनके मन में दूसरे का कहना जल्द आ जाता है और उस पर विश्वास जम जाता है। हमारे देश में ब्राह्मण इस विश्वास ही का बड़ा फायदा उठा रहे हैं। यहाँ की प्रजा को सीधी और अकुटिल समझ नरक और परलोक का अनेक भय दिखाय जैसा चाहा वैसा उनसे मनवाया। विश्वास बहुत कुछ

अज्ञता और मूर्खता पर निर्भर रहता है इसलिए हाल के जमाने के चालाक ब्राह्मणों ने पहले प्रजा को पढ़ने से रोका, वेद उनसे छिपाया और देश भर को मूर्ख कर डाला तब जैसा चाहा वैसा उनके मन में विश्वास जमा दिया। ईश्वरीय नियम है, जो दूसरे की बुराई चाहेगा उसकी पहले बुराई होगी; प्रजा को मूर्ख और अज्ञ कर देने की चेष्टा करते-करते आप स्वयं मूर्ख हो गये। अब इस समय जब कि अँगरेजी तालीम ने विश्वास की जड़ हिला डाला है लोग पढ़-पढ़ कर सचेत हो जाते हैं और इनके चंगुल से निकलते जाते हैं पर ये वही मोची के मोची रहा चाहते हैं। कितना ही कहो, हजार-हजार फिकिर करो ये उस अज्ञता के कीचड़ के बाहर न होंगे, दक्षिणा के लोभ से उसी में औंदे पड़े रहेंगे।

मनवाना केवल अज्ञ ही के लिए सहज नहीं है किन्तु बहुज्ञ को भी मनवाय देना सहज है किन्तु वे जो अधकचड़े हैं जिन्हें ज्ञान-लव-दुर्विदग्ध की पदवी दी गई है उनके जी में विश्वास दिलाना महा-दुष्कर है। इसी मूल पर भर्तृहरि के ये कई एक श्लोक हैं—

> अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
> ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तंनरं न रंजयति॥
> लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्।
> पिबेच्चमृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः॥
> कदाचिदपिपर्यटन् शशविषाणमासादयेत्तु।
> प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्॥ इत्यादि।

इसी से यह भी कहा गया है कि या तो वे सुखी हैं जो सर्वथा अज्ञ हैं या वे जो सब भाँति पारंगत हैं पर वे जो न तो मूर्ख हैं न सर्वज्ञ हैं अधकचड़े हैं, क्लेश उठाते हैं:—

> यश्चमूढतमो लोके यश्चबुद्धेः परंगतः।
> द्वाविमौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः॥

पाठक, अब आप अपनी कहिये आप किस श्रेणी में नाम लिखाया चाहते हैं। अज्ञ तो आप हैं नहीं, ईश्वर करे अज्ञता आप के विरोधियों के हिस्से में जा पड़े। मैं तो यही समझता हूँ कि आप बहुश दूरदर्शी चतुर सयाने हो तो निश्चय मेरी बात का विश्वास आपको होगा। मेरे इस निवेदन को सर्वथा न झूठ मानोगे। मेरा पत्र इस समय बड़ी संकीर्ण दशा में आ गया है, वर्ष भी पूरा हो गया। विशेष सहायता इस दुर्भिक्ष के समय नहीं दे सकते तो अपना-अपना मूल्य तो कृपा कर भेज मुझे उपकृत और बाधित कीजिये। निश्चय मानिये, केवल संकीर्णता है जिससे मैं प्रतिमास ठीक समय पर आप से नहीं मिल सकता। आप बुद्धिमानों की कोटि के हैं या उससे इतर वाली कोटि के, इसमें आपकी परख भी भरपूर है।

यह मानना ही है जिससे ईश्वर की ईश्वरता कायम है नहीं तो ईश्वरता के अनेक अनर्गल गड़बड़ काम देख जिससे पग-पग में विषम भाव और निर्घृणता प्रगट हो रही है कौन ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करता। कहाँ तक कहें मान लेने पर संसार के यावत् काम आ लगे हैं "मानो ता देव नहीं पत्थर" मानना यह अद्भुत ईश्वरीय शक्ति न होती और किसी का कोई विश्वास न करता तो यह जना-कीर्ण-जगत् जीर्ण-अरण्य-सा हो जाता। यदि मानना और मनाना यह दोनों बातें संसार से निकाल ली जाँय तो इस नश्वर जगत् में कौन-सा आनन्द बच रहा जिसकी लालच में सब तरह की झंझट और अनेक प्रकार की ऊँची-नीची दशा भोग-भाग भी जीने से लोग नहीं ऊबते। सच तो यों है कि मानने का भाव उठा दिया जाय तो यह दुनिया रहने लायक न रह जाय। हमें लोग प्रामाणिक महात्मा बुजुर्ग मानें और उदाहरण में रक्खें इसीलिये चरित्र संशोधन किया जाता है। बुद्धिमान मनुष्य सब तरह का क्लेश सहकर भी चरित्र में दाग नहीं लगने देते। हम नेक नाम रहें और सब कोई हमें मानें इसी लिये राजा प्रजा पर अन्याय करने से अपने को बचाता है, धनवान् गरीबों को सहारा देते

है, सबल निर्बल को बचाता है, गुरु शिष्य को पढ़ाता है ऊँच नीच का मान रखता है, इत्यादि। स्वार्थ-वश प्रेम तथा द्रोह सभी करते हैं पर निस्वार्थ-प्रेम का भाव केवल मानने ही के कारण से है। इस तरह पर इस मानने मनाने के भाव को जितना चाहिये पल्लवित कर सकते हैं हमने केवल दिक्-प्रदर्शन मात्र किया है।

अगस्त; १८९९

२३—काम और नाम दोनों साथ-साथ चलते हैं

नाम के कायम रखने को आदमी न जानिये क्या-क्या काम करता है। लोग कुआँ खुदाते हैं। बावली बनवाते हैं। बाग लगाते हैं। महफिल सजाते हैं। क्षेत्र और सदाव्रत चलाते हैं। नाम ही के लिये लोग लाखों लुटाते हैं। स्कूल पाठशाला तथा अस्पताल कायम करते हैं। इस तरह पर काम और नाम दोनों का बराबर साथ निभता चला जाता है। सच कहो तो इस असार संसार में जन्म पाय ऐसा ही काम कर चले जिसमें नाम बना रहे जिनका नाम बना रहता है वे मानों सदा जीते ही रहते हैं। जिस काम से नाम न हुआ वह काम ही व्यर्थ है। काम भी दो तरह के होते हैं, नेक और बद। नेक काम से आदमी नेक नाम होता है, प्रातः स्मरणीय होता, पुण्य-श्लोक कहलाता है। बद काम से बदनाम होता है उसका नाम लेते लोग घिनाते हैं। गालियाँ देते हैं। नाक और भौं सिकोड़ने लगते हैं—

कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः,

पुण्य श्लोक यथा

पुण्यश्लोको नलोराजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः।
पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दनः॥
कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च।
ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं पाप नाशनम्॥

इत्यादि नेकनामी के अनेक उदाहरण हैं। केवल अपने-अपने काम ही से लोग नेकनाम हो गये। रणजीत सिंह, शिवाजी प्रभृति शूरवीर, विद्यासागर सरीखे देश हितैषी, लार्ड रिपन-से शासनकर्ता, शेक्सपियर, मिलटन, कालिदास आदि कवि सब अपने-अपने काम ही से हम लोगों के बीच मानों जी रहे हैं और आ-चन्द्रतारक जीते रहेंगे। काम के

जरिये नाम कायम रखने के तरीकों में किसी ठठोल ने एक यह तरीका भी लिखा है।

घटं भिन्द्यात्पटं छिन्द्याद्रासभारोहणं चरेत्।
येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्॥

घड़े फोड़ डाले, कपड़े फाड़ डाले, गदहे पर सवार होकर चले किसी न किसी तरह मनुष्य नाम हासिल करै। कितने हलाकू, चंगेज़, नादिर से जगत-शत्रु ऐसे भी हो गये हैं जिनके काम की चर्चा सुन गर्भवती के गर्भ गिर पड़ते हैं। कितने नाम के लिये मर मिटते हैं—जग में मुँह उजला रहे, बात न जाय, कोई नाम न रक्खे, एक की जगह चाहे दस लुटै पर ऐसा काम न बन पड़े कि सब लोग हँसें। नाम रखते हैं, नाम करते हैं, नाम धरते हैं, नाम धराते हैं, नाम पड़ता है, नाम चलता है, इत्यादि अनेक मुहाविरे नाम के हमारा रोजमर्रे की बातचीत में कहे-सुने जाते हैं पर इन सबों में नाम का काम ही की तरफ इशारा रहता है। ईश्वर न करै बुरे कामों के लिये किसी का नाम निकल पड़े। दूसरा भी कोई बुरा काम करै तो भी "नरक पड़ै को चन्दू चाचा" समाज में उसी की तरफ सबों की ओर से अंगुश्त नुमाई का जायगा जो बुरे कामों के लिये प्रसिद्ध हो चुका है। पुलिस भी उसी को तके रहेगी मैजिस्ट्रेट साहब जुदा उसकी खोज में रहेंगे। योंही भले काम के लिये नाम निकल गया तो चाहो दूसरा भी कोई वैसा ही काम करै किन्तु देशी परदेशियों में नाम उसी का लिया जायगा "कटै सिपाही, नाम सरदार का", "नामी शाह कमावे खाय नामी चोर मारा जाय" जो बात बिना उस तरह के काम के होती है वह बराय नाम को कही जाती है जैसा ईसाई मत के माननेवालों में ईसा पर विश्वास बराय नाम को है। इन दिनों के सभ्यों में सच्ची सभ्यता बराय नाम को है। मैनचेस्टर के बने कपड़ों के आगे देशी कपड़ों की क़दर बराय नाम को है। इस समय के ब्राह्मणों में द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी आदि उपाधि बराय नाम है—

"पढ़े लिखे ओनचौ नहीं नाम मुहम्मद फाजिल"
चार वेद की कौन कहे चार अक्षर से भी भेंट नहीं है कोरे लण्ठदास पर कहलाने को द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी। इसी तरह इस साल वर्षा और खेती में उपज बराय नाम को है। दिवालदार रोजगारियों में इमानदारी बराय नाम है। अँगरेज और हिन्दुस्तानियों के मुकाबिले हाकिमों को इन्साफ बराय नाम है। कितनों का नाम दाम के कारन, नाम के लायक कोई काम उनसे न भी बन पड़ा हो तो भी दाम ऐसी चीज है कि उनका नाम लेना कैसा वरन् खुशामद करनी पड़ती है। ऊसर की वर्षा समान गोधनदास, तिनकौड़ीमल, चिथरूदास के नामों में कौन-सी खूबसूरती है। इत्तिफाक से ऐसों के पास बहुत-सा रुपया जुड़ गया न आप पेट भर खाता है न दूसरों को खाते-पहनते देख सकता है न उस रुपये से यह लोक परलोक का कोई काम निकलता है। समाज में यहाँ तक मनहूस समझा गया है कि सबेरे भूल से कहीं जबान पर आ जाय तो दिन का दिन नष्ट जाय। ऐसों से सरोकार केवल दाम ही के कारन लोग रखते हैं और हाजत रफा करने की भाँति उसके पास जाना पड़ता है इत्यादि, काम और नाम का विवरण पढ़ने वालों के चित्त विनोदार्थ यहाँ पर लिखा गया। अन्त में इतना और विशेष वक्तव्य है कि काम और नाम दोनों का साथ दाम पल्ले रहने से अच्छा निभ सकता है अर्थात् दाम वाला चाहे तो अपने कामों से नाम पैदा करना उसके लिये जैसा सहज है वैसा औरों के लिये नहीं है।

जुलाई; १८९६

२४–सुख-दुःख का अलग-अलग विवेचन

बुद्धिमानों ने सुख-दुःख का निर्णय इस तरह पर किया है कि जो अपने को अनुकूल वेदनीय वह सुख है और जो प्रतिकूल वेदनीय हो वह दुःख है। एक ही वस्तु एक को सुख का कारण होती है इसलिये कि वह सब भाँति उसके अनुकूल है; वही दूसरे को दुखदायी हो जाती है क्योंकि वह सब तरह पर उसके प्रतिकूल पड़ती है। प्राणी मात्र को एक ही वस्तु या एक ही विषय सुखद और दुःखद नहीं होते। माघ कवि ने कहा भी है:—

"भिन्नरुचिर्हि लोकः"

इत्र जो हम लोगों को अत्यन्त प्राणतर्पण और मस्तिष्क को ताकत पहुँचाने वाला है गोबरैले को सुँघाने से वह मर जाता है। हम गृहस्थों को विषयास्वाद सुख का हेतु और जन्म का साफल्य है वहाँ विरक्त वीतराग को उसमें हेय बुद्धि और जैसे हो सके उसका त्याग सुख और शान्ति का हेतु है। आलसी सुस्त बेकाम पड़े रहने ही को सुख समझता है परिश्रमशील उद्योगी परिश्रम ही को सुख मानता है। उदार चेता को खाने खिलाने और किसी को अपने पास का चार पैसा दे देने में असीम सुख मिलता है। वहीं बद्धमुष्टि कंजूस कदर्य की समझ में जो सुख की अन्तिम सीमा हाव-हाव कर रुपया बटोरने में है वह इन्द्र के अर्द्धासन के मिलने में भी कदाचित् न होगी। खेलाड़ी आलसी लड़का पढ़ना महा दुःखदायी मानता है वहीं विनीत, परिश्रमी, विद्यानुरागी नई-नई पुस्तकें और उनके लेख पढ़ने में अपने आनन्द का उत्कर्ष और दिल-बहलाव का एक मात्र वसीला मानता है। डरपोक कायर के लिये रण-क्षेत्र भय का स्थान है वहीं युद्धोत्साही वीर के लिये

उससे बढ़ के कोई सुख हई नहीं इत्यादि। जिस वस्तु को हम दुःखद मान उससे घिनाते हैं वह भी प्रकृति के नियम अनुसार ईश्वर की सृष्टि में बड़े ही काम की है। तो निश्चय हुआ वास्तव में सुख-दुःख का अस्तित्व कल्पित है। हमारा मन जिस भावना से जिस ग्रहण करता है उसी भावना का नाम सुख अथवा दुःख है। गंभीर बुद्धि वाले विचारवान् का यह काम न समझा जायगा कि थोड़ा-सा भी अपने प्रतिकूल होने से विकल हो धैर्य को पास फटकने का अवसर न देना और उस व्याकुली में भाग्य, अदृष्ट और ईश्वर पर समस्त दोष आरोपित कर देना। यदि अदृष्ट या ईश्वर का यह सब दोष ठहराया जाय तो उसके प्राकृतिक नियम किस लिये रक्खे गये हैं। प्रकृति के अनुकूल जो कुछ है वह कभी दुःख का हेतु होगा ही नहीं—वरन् प्रकृति देवी की विश्व-विमोहनी अपरिमित व्यापकता में सब कुछ समीचीन और अच्छा ही अच्छा है। ईश्वर की सृष्टि में निष्प्रयोजन तो कुछ हुई नहीं, न कोई काम या घटना निष्प्रयोजन होती है। ज्ञानातीत होने से उसका भेद या मर्म हमारी ओछी बुद्धि में नहीं आता तो यह हमारी ही अल्पज्ञता का दोष है। ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् आदि लड़ी के बड़े विशेषण युक्त अपने प्रभु, उत्पादन पालन और संहारकर्ता मान उस दोष लगाना कैसी अदूर-दर्शिता और मूर्खता है। इससे सुख-दुःख में समभाव का होना ही परम सुख या सच्चा सुख है; योग सिद्धि का प्रधान अंग; शान्ति लाभ का एक मात्र सहायक और स्थिर-धी का मुख्य लक्षण है—

> दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
> वीतरागभयक्रोधः स्थिरधीर्मुनिरुच्यते"॥

यह सुख-दुःख की दशा महामना, उदार चेता बड़े लोगों के पहिचान की एक कसौटी है—

> "संपत्सु महतां चित्तं भवत्युत्पलकोमलम्।
> आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम्॥"

सुख और सम्पत्ति की दशा में बड़े लोगों का चित्त उत्पल जो अत्यन्त कोमल होता है तत्सदृश मुलायम हो जाता है; अत्यन्त विनीत और नम्र हो झुकने लगते हैं। वहां जो ओछे, छोटे, संकीर्ण हृदय हैं वे अभिमान में फूल बड़े कट्टर हो झुकना जानते ही नहीं—विपद्ग्रस्त दुःखित दशा में बड़े लोग धैर्य भर पत्थर से कड़े दिल बने रहते हैं; जो क्षुद्र हृदय हैं धीरज छोड़ गिड़गिड़ाने लगते हैं।

नवम्बर; १९००

२५—कष्टात्कष्टतरं क्षुधा

शरीर में भाँति-भाँति के रोग-दोष का होना; धन-रहित हो एक-एक पैसे के लिये तरसना; बन्धु-बान्धव, प्रेमी जनों की जुदाई का दुःसह दुःख आदि अनेक कष्ट मनुष्य-जीवन में आ पड़ते हैं किन्तु हाय पेट की आग का बुझना इससे बढ़ कर कोई क्लेश नहीं है। और-और दुःख लोग बहुत कुछ रोने-गाने और सन्ताप के उपरान्त किसी न किसी तरह बरदाश्त कर अन्त को चुप हो बैठ रहते हैं पर भूख का क्लेश नहीं बरदाश्त होता। जठराग्नि के लिये इन्धन सम्पादन का ऐसा भारी बन्धन है जिसमें जीव मात्र बँधे हुए भोर को खाट से उठते ही साँझ लौ इसी की चिन्ता में व्यग्र इतस्ततः धावमान् किसी न किसी तरह अपना पेट पालते ही तो हैं। अस्तु और-और समय दुरन्त पूरा इस उदर दरी का पाटना इतना कभी चाहे न भी रहा हो जैसा अब हो रहा है; किन्तु अनेक बार की गाई हुई गीत का फिर-फिर गाना व्यर्थ और नितान्त अरोचक होगा। योगी जन यत्न और अभ्यास से उन-उन इन्द्रियों को जिन्हें काबू में लाना अतीव दुर्घट है अन्त को अपने आधीन करी तो लेते हैं पर इस जठराग्नि के ऊपर उनका कुछ वश नहीं चलता। बे-वश उन्हें भी इसके लिये चिन्ता करनी ही पड़ती है। शृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचना चातुरी के एकमात्र परमचार्य कविवर गोवर्द्धन अपनी 'गोवर्द्धन सप्तशती' में ऐसा लिख भी गये हैं—

> "एकः स एव जीवति हृदयविहीनोऽपि सहृदयो राहुः।
> यःसकललघिमकारणमुदरं न बिभर्ति दुष्पूरम्"॥

जीवन एक राहु का सफल है, जो केवल शिरोभाग होने से हृदय शून्य होकर भी सहृदय चतुर या सरस हृदय वाला है इसलिए कि

यावत् हलकाई का एकमात्र कारण उदर अपने में नहीं रखता। भागवत में व्यासदेव महाराज ने धनियों पर आक्षेप करते हुए लिखा है—

"कस्माद्भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्?"

कवि और बुध जन धन के मद से अन्धे धनियों की सेवा क्यों करते हैं और अपना अपमान उनसे क्यों कराते हैं? अपने इस दग्धोदर के भर लेने को साग-पात और वन के फल-फूल क्या उच्छिन्न हो गये हैं। पर वह समय अब कहाँ रहा जब कि सन्तोष की शान्ति-मूर्ति का प्रकाश एक-एक आदमी पर झलक रहा था; गाम्भीर्य और उदार भाव का सब ओर विस्तार था; हवस और तृष्णा-पिशाची का सर्वथा लोप था; किसी को किसी तरह की संकीर्णता और किसी वस्तु का अभाव न था; वैसे समय में भी क्षुधा का क्लेश इतना असह्य था कि लिखने वाले ने इसे "कष्टात्कष्टतरं" कहा—न कि अब इस समय जब कि कौड़ी और मुहर का फर्क आ लगा है। उस समय लोग स्वभाव ही से सन्तुष्ट, सहनशील, सब भाँति आसूदा, चञ्चल मन और इन्द्रियों को अपने वश में किये हुये थे। देश ऐसा रँजा-पुँजा था कि चारों ओर आनन्द-बधाई बज रही थी। नई-नई ईजादों से हवस इस कदर नहीं बढ़ी थी; किसी को किसी चीज की हाजत न थी तब नई ईजाद क्यों की जाती? वही अब इस समय देखा जाता है कि लोगों में तृष्णा का क्षय किसी तरह होता ही नहीं, सन्तोष को किसी कोने में भी कहीं स्थान नहीं मिलता; "मन नहिं सिन्धु समाय" इस वाक्य की चरितार्थता इन्हीं दिनों देखी जाती है। चंचल इन्द्रियों को दबा कर विषय-वासना से परहेज करने वाले या तो दम्भ की मूर्ति होंगे नहीं तो वे ही होंगे जिनमें शाइस्तगी या सभ्यता ने अपना प्रकाश नहीं किया। परस्पर की स्पर्द्धा या डाह ने यहाँ तक पाँव फैला रक्खा है कि लोगों को हवस की कटीली झाड़ी में झोंके देती है। उदारभाव संकुचित हो न जानिये किस गुफा में जा छिपा, दूसरे के मुकाबिले जरा भी अपनी हानि या

अपनी हेठी सहना किसी को गँवारा नहीं होता। दुर्भिक्ष-पीड़ित प्रजा में अनेक आधि-व्याधि, प्लेग और मरी से ... और उदासी और नहूसत का पूरा रंग जम रहा है। चहूँ ओर दरिद्रता का जहाँ साम्राज्य फैला हुआ है वहाँ बिलाइत की नई-नई नफासत और भाँति-भाँति की चटकीली, मन को लुभाने वाली कारीगरी जो कुछ बच रहा; उसे भी ढोये लिये जाती है। क्षुधा को कष्टात्कष्टतर लिखने वाले इस समय होते तो न जानिये कितना पछताते, क्या तअज्जुब सिर धुनने लगते। किन्तु दैवी-रचना बड़ी ही अद्‌भुत है, कुदरत के खेल का कौन पार पा सकता है इतने पर भी मोह का जाल ऐसा फैला हुआ है कि पढ़, अपढ़, ज्ञानी, मानी सभी उसमें फँसे हुये हैं। क्षुधा के इस अपरिहार्य कष्ट से बचने की कौन कहे जान बूझ हम सब लोग उसमें अपने को छोड़ते जाते हैं। कितने हैं जिन्हें पेट भर अन्न खाने को नहीं मिलता सुख पूर्वक रहने को स्थान भी नहीं है तब जिन्दगी की और लज्जतें और आराम की कौन कहे पर नरक से परित्राण पाने को पुत्र का पैदा होना जरूरी बात मान रहे हैं—

"पुमाख्योनरकात् त्रायते इति पुत्रः"

क्या कुओं की भाग है हम नहीं जानते इन गीदड़ों की सृष्टि से, क्या नरक से उद्धार होता है। नरक से उद्धार इस अहङ्कवाद को कौन जानता है, किसी की चिट्ठी तो आई नहीं पर इन गीदड़ों की सृष्टि यहाँ घोर नरक में हमें अलबत्ता गेरती है। जिसमें औलाद बढ़े इसलिये पुत्र का अर्थ नरक से उद्धार करने वाला तब के लिये था जब देश का देश एक कोने से दूसरे तक सूना और खाली पड़ा था और उसे आबाद करना पुराने आर्यों को मंजूर था। अब तो मनु का यह श्लोक हमारे वास्ते उपयुक्त है—

"चतुर्णामपि भ्रातृणामेकश्चेत्पुत्रवान्भवेत्।
तेन पुत्रेण सर्वे ते पुत्रिणो मनुरब्रवीत्"॥

चार भाइयों में एक के भी सिंह-शावक सा पुत्र जन्मै तो उसी से वे चारों पुत्रवान् हैं। सच तो है मुर्दा दिल, सब भाँति गये बीते, निरे निकम्मे, गीदड़ की सी प्रकृति वाले, अब इस समय हम लोगों की औलाद बढ़ के क्या होगी? सियार के कभी सिंह पैदा हो सर्वथा असम्भव है। इनका अधिक बढ़ना केवल ऊपर का वाक्य कष्टात्कष्टतरं-क्षुधा को पुष्ट करने के लिये है। देश में क्षुधा का क्लेश जो दिन-दिन बढ़ रहा है उसमें सामयिक शासन-प्रणाली की भाँति-भाँति की कड़ाई के अतिरिक्त एक यह भी है कि बाल्य-विवाह आदि अनेक कुरीतियों की बदौलत हम लोगों की निकम्मी सृष्टि अशक्त बढ़ती जाती है जिनमें सिंह के छौनों का-सा पुरुषार्थ कहीं छू नहीं गया। पूर्व संचित सब शत-छिद्र-घट में पानी के समान निकला जाता है देश में पुरुषार्थ के अभाव से नया धन आता नहीं; परिणाम जिसका भूख का क्लेश बढ़ाने के सिवाय और क्या हो सकता है? धन इस तरह क्षीण होता जाता है धरती की शक्ति अल्प हो जाने से पैदावरी औसत से उतनी नहीं होती जितनी आबादी मुल्क की बढ़ रही है। एक साल किसी एक प्रान्त में भी अवर्षण हुआ तो उसका असर देश भर में छा जाता है। माना पहले की अपेक्षा धरती अब बहुत अधिक जोती बोई जाती है किन्तु उत्पादिका-शक्ति कम होने से खेती की अधिकाई का कोई विशेष लाभ न रहा। अस्तु, सो भी सही यहाँ की पैदावार यहीं रहती बाहर के दूर देशों में न जाती तब भी सस्ती रहती अन्न का कष्ट न उठाना पड़ता। सो भी नहीं है देश में धन आने का कोई दूसरा द्वार न रहा सिवाय पृथ्वी की उपज के वह उपज बाहर न जाय तो बड़े बड़े फर्म और महाजनों की कोठियों में भी जहाँ लाख और करोड़ की गिनती है एक पैसा न दिखलाई दे। कलकत्ता और बम्बई ऐसे दो-एक शहरों को छोड़ देश भर में बड़े-बड़े रोजगारी जिनके घर रुपयों की झनझनाहट छाई रहती थी उदासी छाई हुई है; जिनके चलते काम में किसी को पानी पीने की फुरसत नहीं

मिलती थी वहाँ लोग मौन साधे बसना बिछाये हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं; केवल ब्याज की या गाँव की आमदनी से अमीरी ठाठ बाँधे हुये हैं। तात्पर्य यह कि कोई दूसरा उद्यम न रहा सिवाय खेती की उपज के जो हमारी निज की भोग्य वस्तु है उसे दूसरे को दे जब हम उसका मूल्य लेंगे तो हमारे निज के भोजन में तो कसर पड़ती ही रहेगी। इसका विचार यहाँ पर छोड़े ही देते हैं कि वही उपज जिसे हम कच्चा बाना (रॉ मैटीरियल) कहेंगे हमसे खरीद विलायत वाले अपनी बुद्धि-कौशल से बदले में हम से चौगुना कभी को अठगुना वसूल करते हैं और हम उन-उन पदार्थों की चमक-दमक तथा स्वच्छता पर रीझ खुशी से दिये देते हैं देश को निर्धन और दरिद्र किये डालते हैं। जैसा हमारे यहाँ हजार-पति और लाख-पति रईसों में अग्रगण्य और माननीय होते हैं वैसा ही अमेरिका, जर्मनी, इंगलैंड आदि देशों में करोड़पति हैं; लाख दो लाख का धनी तो वहाँ किसी गिनती में नहीं है। उन लोगों ने अलबत्ता कभी कान से भी न सुना होगा कि भूख का कष्ट भी कोई कष्ट है। यहाँ पुत्र नरक से उद्धार का द्वारा हो श्वान समूह को इतना बेहद बढ़ा दिया कि पेट-पालन भी दुर्घट हो गया। हमारे पढ़ने वाले हमें चाहे जो समझें हमें चाहे जैसी हिकारत की नजर से खयाल करें हम कहेंगे यही कि देश की इस वर्तमान दशा में हम लोगों को सृष्टि का बढ़ना जीते ही नारकीय यातनाओं का स्वाद चखना है। हम नहीं जानते कहाँ तक इनका पौरुषेय-विहीन श्वान-दल बढ़ता जायगा जिसमें गर्मी कहीं नाम को नहीं बच रही। सच माघ कवि ने कहा है:—

> "पादाहतं यदुत्थाय मूर्द्धानमधिरोहति।
> स्वस्था एवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः॥"

रास्ते की धूलि भी पाँव से ताड़ित हो सिर पर चढ़ती है, जिससे प्रगट है कि अपना अपमान ऐसा बुरा है कि ऐसी तुच्छ वस्तु धूलि भी नहीं उसे सह सकती और सिर पर चढ़ अपमान का बदला चुकाना

चाहती है। कवि कहता है धूलि "खाक" को भी जब इतना ज्ञान है तो उस मनुष्य से धूलि ही भली जो अपमान सहकर भी निर्विकार जैसे का तैसा बना रहता है। इतना ही होता तो इनकी यह दशा क्यों होती कि इस समय भूमण्डल पर कोई जाति नहीं है जो इतने दिनों तक अपमान कैसा वरन् गुलामी की हालत में धौल खाते-खाते जन्म का जन्म बीत गया और चेत न आई सिर नीचा किये सबर को अपना दीक्षा गुरू मान सब सहते चले जाते हैं। जिन्हें गुलामी झेलते न जानिये कितनी शताब्दी बीत गई जो इनकी नस-नस में व्याप्त हो गई इसी से सेवकाई का काम ये बहुत अच्छा जानते हैं और अपनी स्वामि-भक्ति के बड़े अभिमानी भी हैं। मालिक बनना न इन्हें आता है न स्वामित्व की जितनी बात और जितने गुण हैं वे इनके मन में धँसते हैं न आ-कल्पान्त इनके सुधरने की कोई आशा पाई जाती है। केवल दास्य-भाव होता तो कदाचित् मिट जाता और फिर भी इनमें नवजीवन आ जाता। पुराने ब्रिटन्स चार सौ वर्ष लों रोमन्स लोगों की गुलामी के बाद फिर जो क्रम-क्रम से स्वच्छन्द होने लगे तो कहाँ तक उन्नति के शिखर पर चढ़े कि अब इस भूमण्डल पर उसके समान कोई जाति नहीं है और इंगलैंड इस समय सब का शिरोमणि हो रहा है। पर यहाँ तो दूसरा कोढ़ इनके साथ परिवर्तन-विमुखता का लग रहा है। मनु के समय जो दो पहिये का छकड़ा निकला उसमें फिर अब तक कुछ अदल बदल न हुई। शायद इसके बराबर का ऐसा ही कोई दूसरा पाप होगा कि बाप-दादा के समय की प्रचलित रिवाज में परिवर्तन किया जाय। जो कुछ दोष उसमें आ गया है उसे मिटाय संशोधन करना मानो अपने लिये नरक का रास्ता साफ करना है, उसका यह लोक-परलोक दोनों गया दाखिल समझो इत्यादि बातों का खयाल कर क्षुधा को कष्टात्कष्टतर कहना हिन्दुस्तान के लिये सब भाँति सत्य और उचित मालूम होता है।

मई, १९०३

२६—वायु

जगदीश जगदाधार पाँच तत्वों में वायु जो सभों में प्रधान है हमारे शरीर में सन्निवेशित कर हमें प्राणवान् किये हैं। वायु पाँचों तत्वों में प्रधान है। इसके प्रमाण में तैत्तरीय उपनिषद् की यह श्रुति है :—

"तस्माद्वेतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूत आकाशाद्
वायुर्वायोरग्निरग्नेरापः अद्भ्य पृथिवी।"

"उस परमात्मा की सत्ता से पहले आकाश हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी हुई। अग्नि, वायु, जल इन तीनों में वायु सभों में प्रधान है। शरीर के एक-एक अवयव हाथ, पाँव, नाक, कान, आँख इत्यादि में किसी एक के न रहने से भी हम जी सकते हैं। पर शरीर में वायु न रहे तो न जियेंगे। हमारे हाथ-पाँव रस और मांस तथा मेदा के बने हैं। विशेष कर जल और पृथिवी इन्हीं दो तत्वों से इनका निर्माण है, ये न भी हों तो मनुष्य लूला और लँगड़ा हो जी सकता है। ऐसा ही हमारे दोनों नेत्र तैजस पदार्थ हैं न भी हों तो हम अन्धे हो जीते रहेंगे किन्तु एक मिनट भी मुँह और नाक बन्द कर वायु का गमनागमन बन्द कर दिया जाय तो तत्क्षण हम मूर्छित हो जाँयगे। प्राणी-मात्र के लिये वायु तो जीवन है ही वरन् उद्भिज पेड़-पालव भी हवा न लगने से हरे-भरे नहीं रह सकते।

वायु क्या पदार्थ है उसे हम नेत्र से नहीं देख सकते किन्तु विचित्र शक्ति अद्भुत कल्पनाशाली सर्वेश्वर उसके ज्ञान के लिये त्वगिन्द्रिय हमें दी है और किसी दूसरी इन्द्रिय से वायु को हम प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। नैयायिकों के मत के अनुसार शब्द और स्पर्श यह दो इसके विषय हैं। दार्शनिकों ने शब्द गुण आकाश माना है।

मछली आदि जल-चर जन्तु जिस तरह अनन्त अगाध समुद्र में रहते हैं वैसे ही हम विपुल वसुन्धरा के ऊपर इसी विशाल वायु सागर में रहते हैं। मृदु-मन्द-गामी समीरन वृक्षों के पत्तों को कँपाता थके-माँदे मनुष्य को शीतल और पुलकित-गात्र करता हुआ चलता है तब हम उसकी गति का अनुमान करते हैं किन्तु प्रत्यक्ष नहीं कर सकते कि वायु क्या पदार्थ है? जब यह घोर गम्भीर गर्जन से दिग्मण्डल को पूरित करता अपने प्रबल आघात से ऊँचे-ऊँचे पेड़ों को उखाड़ डालता है उस समय हम वायु के केवल अस्तित्व मात्र से नहीं वरन् इसकी असाधारण शक्ति से परिचित होते हैं। संस्कृत दर्शनकार शब्द, गुण, आकाश मान गये हैं किन्तु यूरोप के विज्ञान-वेत्ताओं ने परीक्षा द्वारा प्रमाणित कर दिया है कि शब्द आकाश का गुण नहीं है किन्तु शब्द भी वायु का गुण है। एक बोतल जिसकी हवा वायु-निष्कासन-यन्त्र द्वारा निकाल ली गई हो उसमें कंकड़ भर हिलाओ तो शब्द न होगा। इससे यह बात स्पष्ट है कि बोतल के भीतर आकाश के होते भी जो शब्द नहीं होता तो शब्द वायु का गुण है।

केवल इतना ही नहीं कि वायु जगत् का प्राण प्रद है; अमर में "जगत्प्राण समीरणः" ऐसा वायु का नाम लिखा है अपिच इसमें और अनेक गुण हैं। यह ओद को सूखा कर देता है, उत्तम गन्ध वहन कर घ्राण-इन्द्रिय को तृप्त करता है "सुरभिर्घ्राणतर्पणः" यह सुगन्धि का नाम वायु ही के कारण पड़ा है। इस भू-पृष्ठ पर ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ वायु न हो, अतल स्पर्श सागर, अन्धकार पूरित शून्य गुफा अत्युच्च पर्वत शृङ्ग सब ठौर इसका अस्तित्व है। भू-पृष्ठ से चालीस मील[1] ऊपर तक वायु का संचार अच्छी तरह अनुभव किया गया। ज्यों-ज्यों ऊँचे स्थान में आइये त्यों-त्यों वायु पतला होता जायगा यहाँ तक कि बहुत ऊँचे स्थान में जैसे हिमालय के अत्युच्च शिखर पर इतनी कम हवा है कि

1. मील।

हम वहाँ श्वास नहीं ले सकते। सूर्य-सिद्धान्त में लिखा है समस्त राशि-चक्र प्रवह वायु द्वारा आकृष्ट हो अपनी-अपनी कक्षा में निरन्तर भ्रमण करता है। उसी राशि-चक्र में बंधे हुये सूर्यादिग्रह अपनी-अपनी नियमित कक्षा पर नियमित चाल से चला करते हैं।

"भूचक्रं ध्रुवयोर्बद्ध माक्षिप्तं प्रवहानिलैः।
पर्यात्यजस्त्रं तन्नद्धाग्रहकक्षा यथा क्रमः"॥

सिद्धान्त शिरोमणि में लिखा है पृथिवी के बारह-बारह योजन तक जो वायु है उसी में मेघ और विद्युत् रहते हैं उपरान्त प्रवह नाम का वायु है और उसकी गति सदा पश्चिमाभिमुख रहती है उसी में ग्रह और नक्षत्र सब हैं। वामन पुराण में सात प्रकार का वायु लिखा है वही मरुत् गण है। जिनके नाम ये हैं प्रवह, निवह, उद्वह, संवह, विवह, सुवह, परिवह। इन्द्र ने इन सातों वायु का आकाश में पथ-विभाग निश्चित कर दिया है। पुराण में वे ही मरुत् के गण कहे गये हैं। ये मरुत्-गण क्या हैं सो फिर कभी लिखेंगे।

२७—ग्राम्य-जीवन

मनुष्य के लिये ग्राम्य-जीवन मानों प्रकृति देवी की शुद्ध प्राकृतिक अवस्था का आदर्श स्वरूप है। अर्थात् (नेचर) प्रकृति के साथ (आर्ट)-बनावट ने जब तक बिलकुल छेड़-छाड़ नहीं किया उस दशा में प्रकृति देवी का कैसा स्वरूप रहता है ग्राम्य-जीवन में यह हमारे सामने आइना-सा रख दिया गया है। अपने लेखों में हम इसे कई बार सिद्ध कर चुके हैं कि हमारे प्राचीन आर्य प्रकृति के बड़े भक्त थे; वे प्रकृति के स्वाभाविक रूप को अपनी हिकमत अमलों के द्वारा कुरूप या उसे बदलना नहीं चाहते थे। इस आधुनिक पश्चिमी सभ्यता से उनकी पुरानी सभ्यता बिलकुल निराले ढङ्ग की थी। यह हम कभी न मानेंगे कि यूरोप के बड़े नामी विद्वान् दार्शनिक और वैज्ञानिकों की भाँति भाप और बिजली तथा अनेक रासायनिक परिवर्तन में क्या-क्या शक्तियाँ हैं; जिन्हें काम में लाय मिट्टी का पुतला आदमी कहाँ तक तरक्की कर सकता है; जिस तरक्की को साधारण बुद्धि वाले हम लोग दैवी शक्ति या दैवी घटना कहेंगे उन पुराने आर्यों को न सूझी हो। किन्तु उन्होंने जानबूझ इसे बरकाया कि ऐसा होने से हमारी मानवीय प्रकृति (पॉल्यूटेड) दूषित हो प्रत्यवाय में जितना उस प्राकृतिक परिवर्तन से लाभ उठाने की संभावना हम रखते हैं उससे दो चन्द हमारी हानि प्रत्यक्ष है।

हमारी मन्द बुद्धि में कुछ ऐसा ही स्थिर हो गया है कि यह प्लेग हैजा, चेचक आदि का भयंकर उपद्रव जो प्रति वर्ष किसी न किसी रूप में नदी के प्रवाह के समान फैल देश के देश को उजाड़ डालता है; दूसरे जल-वायु की स्वच्छता और शुद्धता संकुचित होती जाती है; यह सब उसी के छोड़ने का परिणाम है। बड़े-बड़े शहरों की घनी बस्ती के दूषित जलवायु का बुरा असर जो भाँति-भाँति के रोग पैदा करने का मानो चश्मा

या प्रसव भूमि है हमारे हड़ांग दिहाती उससे सर्वथा बचे रहते हैं। म्यूनिसिपैलिटी की असह्य वेदना कैसे सहना होता है कभी इन्होंने जाना ही नहीं।

विष या स्वाद में पगे हुये ऐयाशी करते-करते पीले आम-से जर्द; जिनके तन की तन्दुरुस्ती-हरियाली को तरुनी-बार-विलासिनी हरिनी बन चर गईं, ऐसे इन नगर निवासियों को हमारी ग्रामीण मण्डली सुचित बैठ अपनी घरेलू बातचीत में आड़े उड़ाते हुये कहकहे मार रही थी कि अचानक कोई शहर का रहने वाला कपट नाटक की प्रस्तावना सदृश शहरीयत के बर्ताव से ऊबा हुआ वहाँ पहुँच बोला—"क्यों भइया आप लोगों ने कौन सी ऐसी तपस्या किस पुण्य भूमि में कर रक्खा है जो विषय-लम्पट, मदोन्मत्त, नगर के नामी धनियों का मुख तुम्हें नहीं देखना पड़ता। न जाहिरदारी और गर्व में सने उनके बचन तुम्हें सुनना पड़ता है। न हमारे समान तुम उनकी प्रत्याशा में दौड़ा करते हो; शान्त चित्त दिन भर मेहनत करने के उपरान्त समय से जो कुछ मिला भोजन कर टाँग फैलाय सुख की नींद सोये न ऊधो के देने न माधो के लेने, तनजेब आबरवाँ से तुम्हें कोई सरोकार नहीं। गजीगाढ़ा जो कुछ अपने देश में निज की मेहनत से तैयार कर सके उसे जब तुम पहनते हो तब विलाइत के नये फैशन के चटकीले कपड़े तुम्हें फीके जँचते हैं। ऐसा ही सीधी-सीधी भक्क, साफ और सुथरा, निर्मल स्वच्छ वायु का निर्गम जहाँ कहीं से प्रतिहत नहीं है; फूस की छाई तुम्हारी झोपड़ी तुम्हें वह सुख देती है जो हवा से बात करते अभ्रंलिह गगनस्पृक् किन्तु शहर की गन्दी मैली दुर्वायु दूषित अमीरों के सतखण्डे महलों में दुर्लभ है। शहर की गन्दी गलियों की दुर्गन्धि तुम्हारे नासारन्ध्र में काहे को कभी प्रवेश पाया होगा। भाई तुम धन्य हो। अनेक चिन्ता जर्जरित बड़े से बड़े प्रभुवरों और राजा महाराजों को कीमती दस्तरखान और उमदा लजीज जियाफतों में कदाचित् वह स्वाद न मिलता होगा जो तुम्हें टटके ताजे घी, खेत के तुर्त के कटे

ज्वार बाजरे, जव और बेर्रे की ताजी रोटी में मिलता है।

कहा भी है:—

"तरुणं सर्षपशाकं नवनीतं घृतं पिच्छलानि दधीनि।
अल्पव्ययेन सुन्दरि ग्रामीणः जनो मिष्ठमश्नाति"॥

हरा-हरा सरसों का साग तुर्त का मथा मक्खन, हींग और जीरा में बघारा हुई भैंस की पनीली दही से जैसा गाँव के रहने वालों को मधुर स्वादिष्ठ भोजन सब भाँति सुगम है वैसा नगर के धनियों को भी बहुत-सा खर्च करने पर मयस्सर नहीं है। इसमें भैया तुम्हारा जीवन सफल है। संसार का सच्चा सुख तुम्हारे ही बाट में आ पड़ा है। नई सभ्यता का नाम तक आपने न सुना होगा? न नई सभ्यता का विपाक प्लेग और हैजा के कारण खानाबदोशों की भाँति घर छोड़ दर-दर तुम घूमते फिरे होगे? यमराज सहोदर कोट-पैंट-धारी डाक्टरों का मुख भी आप को कभी देखना नहीं पड़ता। मलेरिया ज्वर-जनित पीड़ा निवारणार्थ कुनइन कभी तुम्हें नहीं ढूँढ़ना पड़ता। न हर महीने दवा खाने की बिल आपको अदा करना पड़ता है। टटके स्वच्छ खाद्य वा पेय-पदार्थों का भोग पहले आप लगा लेते हो तब महीनों के उपरान्त नीरस पदार्थ हमें मिलते हैं। हे अमरस भोक्ता तुम्हें नमस्कार है। गौरांग महा प्रभुओं का कभी साल भर में भी एक बार तुम्हें मुख नहीं देखना पड़ता। हम नित्य उनका चपेटाघात सहा करते हैं। हे अन्नपूर्णा देवी के अनन्य भक्त, हे शान्ति के सहकारी जन, हे स्वास्थ्य के सहोदर, आप न होते तो महामारी के विकराल अजगर के मुख से हमें कौन छुड़ा लाता। तुम्हारी ग्राम्य युवतियों की स्वाभाविक लज्जा नागरिक ललनाओं के बनावटी परदों में कहीं ढूँढ़ने पर मिले या न मिले। तुम्हारी समग्र सम्पत्ति का सार भूत पदार्थ गोधन अर्थात् गाय, बैल, भैंस, छेरी, भेड़ी इत्यादि है। गोधन-संपन्न किसान छोटे-मोटे जमींदारों को भी कुछ माल नहीं समझता।

कवि-कुल-मुकुट भट्टि ने भी लिखा है:—

"वियोगदुःखानुभवानभिज्ञैः काले नृपांशं विहितं ददद्भिः।
अहार्यशोभारहितैरमायैरैक्षिष्ट पुंभिः प्रचितान्सगोष्ठान्॥
स्त्री भूषणं चेष्टितमप्रगल्भं चारूण्यवक्राण्यभिवीक्षितानि।
ऋजूंश्च विश्वासकृतः स्वभावान् गोपाङ्गनानां मुमुदे विलोक्य॥
विवृत्तपार्श्वं रुचिराङ्गहारं समुद्वहच्चारुनितम्बबिम्बम्।
आमन्द्र मन्थध्वनिदत्ततालं गोपाङ्गनानृत्यमनन्दयत्तम्॥

श्री रामचन्द्र विश्वामित्र के साथ धनुष-यज्ञ में जाते समय मार्ग में जो ग्राम देखे हैं उन्हीं के वर्णन में ये श्लोक हैं। भारवि और माघ ने कहीं-कहीं ग्राम्य शोभा का वर्णन किया है पर भट्टि का यह वर्णन सर्वोत्कृष्ठ और बहुत ही प्राकृतिक है।

अगस्त; १९०१

२८—मनुष्य तथा वनस्पतियों में समानता

मनुष्य तथा वनस्पतियों के शरीर की बनावट में प्रकृति ने ऐसी प्रकृष्ट चतुराई प्रगट की है जिस पर ध्यान देने से चित्त चकित होता है और इन दोनों में इतना मेल देखने वाले हमारे पुराने आर्य प्रकृति के कैसे बड़े उपासक थे कितना प्राकृतिक बातों को अभ्यसित (स्टडी) किये हुये थे यह बहुधा उनकी लिखावट से प्रगट है। मनु ने लिखा है—

> "शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः
> वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥"

पाप तीन प्रकार के कहे गये हैं कायिक, मानसिक, वाचिक;मनुष्य जो शरीर के द्वारा पाप करता है उसको नरक की विकराल महा दारुण यातना भोगने के उपरान्त उस पाप से छुटकारा पाने को कुछ काल के लिये वृक्ष का शरीर धारण करना पड़ता है। वाचिक पाप किये हुये को नार्किक यातना भोगने के उपरान्त पक्षी या चौपायों का शरीर लेना पड़ता है और मानसिक पाप किये हुये को अन्त्यज अर्थात् डोम-चमार आदि के शरीर में जन्म लेना पड़ता है। तात्पर्य यह कि मनु के इस लेख से यही पता लगता है कि मनुष्य का शरीर पेड़ अथवा वनस्पतियों के गढ़न से बहुत जोड़ खाता है। तब तो कायिक पापों का परिणाम पेड़ को कहा; मानसिक का परिणाम वृक्ष को न कहा लिखिये और चौपाये कहे गये। वृक्ष के लिये जैसा सड़ घुन जाने पर या भूंजे जाने पर फिर नहीं जमते वैसा ही आदमी में भी देखा जाता है कि विषयी जन जो क्षीणवीर्य हैं या गरमी आदि रोगों से भुने हुये होते हैं उनके वीर्य की उत्पादिका शक्ति नष्ट हो जाती है। हम लोग जो काम हाथ के द्वारा करते हैं वृक्षों में वही हाथ का काम

डालियों के द्वारा होता है। हम अपना भोजन मुख के द्वारा कर शरीर में पोषक द्रव्य पहुँचाते हैं वृक्षों का वही काम जड़ या मूल के द्वारा होता है। इसी से ये पादप हैं क्योंकि पाद अर्थात् नीचे से अपना पोषक द्रव्य जल को खींचते हैं—और ऊपरी भाग से डालियाँ और पत्तियाँ तथा फूलों से जो उनके शरीर में मल के स्थान में है उसे फेंकते हैं; यह काम वे रात में विशेष किया करते हैं। बहुत से फूल और पत्तियाँ हैं जिनकी सुगन्धि या दुर्गन्धि दिन में इतना स्पष्ट नहीं मालूम होती जितना रात में। गुलशब्बू के किस्म के फूलों की सुगन्धि रात में अधिक हो जाती है, बुद्धिमानों ने इसी से इसका नाम रजनी-गन्धा रख दिया है। डाक्टर लोग रात में बगीचों में वृक्ष के नीचे रहना या सोना मना करते हैं। इसलिये कि वृक्ष अपने शरीर के विषैले पदार्थों को फेंका करते हैं; घाम, छाँह, शीत, उष्ण, जाड़ा, गरमी आदि का सुख-दुःख जैसा हम अनुभव करते हैं वैसा ही ये वृक्ष भी।

आदमियों में जैसा शीतल देश के निवासी उष्ण देश में नहीं जी सकते वैसा ही इन वृक्षों में देखा जाता है। हम लोगों के देह में जैसा रस, लहू, मांस मेदा, हड्डी आदि सात धातु हैं वैसा ही इन वृक्षों के भी रस (जूस) गूदा आदि हैं। जैसा हम लोगों को बाल वृद्ध तरुनाई का विकास या जुदे-जुदे कारणों से उनमें घाट या बाढ़ होता है वैसा ही इन वृक्षों में भी। तात्पर्य यह कि हमारी और इन वनस्पतियों की एक एक बात पूरी तरह पर मिलती है। बहुधा वृक्षों में भी ऐसे हैं कि जिनमें काट-छाँट न की जाय तो बनैले हो जाते हैं वैसा ही जैसा मनुष्य समाज में न रहे और सभ्यता की बातें उसे न सिखाई जाँय तो गँवार या बनैला हो जाता है। सीधा या टेढ़ा आदि में जिस उठान से वृक्ष उठता है बड़ा होने पर वह वैसा ही बना रहता है बल्कि उस प्रकार की उठान उसकी और दृढ़ हो जाती है। आदमियों में भी हम ऐसे ही देखते हैं कदाचित् इसी बुनियाद पर यह कहावत चल पड़ी है—

"होनहार बिरवान के होत चीकने पात"

बालक लड़काई जैसा रहता है बड़े होने पर उसकी वह भली या बुरी तबियत भलाई या बुराई में अधिक प्रबल पड़ जाती है। जो बालक लड़काई में क्रोधी, कृपण या नीची तबियत का बड़े होने पर कितनी उत्तम शिक्षा के होने पर भी क्रोध कृपणता या नीच स्वभाव में वह बढ़ता जाता है और आमरणान्त वैसा ही बना रहता है। जो बालक लड़काई में सीधा, सरल-स्वभाव, उदार-चित्त, शान्त, सहनशील, है वह बड़ा होने पर चाहे बिलकुल पढ़ाया-लिखाया न जाय तो भी सीधाई, औदार्य और तितिक्षा आदि गुणों में बढ़ता ही जायगा। अधिकतर तो ये गुण-ऐगुण माँ-बाप के रज-वीर्य के अनुसार होते हैं; वैसा ही जैसा जो कड़ुये दाने के वृक्ष हैं उनका फल मीठा नहीं हो सकता न मीठे दाने के पेड़ों में कड़ुये फल लग सकते हैं। लड़के का शील-स्वभाव, चाल-चलन और बर्ताव देख हम उसके माँ-बाप के शील स्वभाव, चाल-चलन बर्ताव आदि को जान सकते हैं। ऐसे ही बाप ने जो भलाई या बुराई की है वह उसकी सन्तान पर उतरती है इसी से यह कहावत है "बाढ़े पुत्र पिता के धर्मे"। मनु ने भी ऐसा ही कहा है :—

"यदि नात्मनि पुत्रेषु नच पुत्रेषु नप्तृषु।
नत्वेवं चरितो धर्मः कर्तुर्भवति नान्यथा॥"

मनुष्य जो भलाई या बुराई करता है उसको उस बुराई या भलाई का फल यहीं इसी जन्म में मिल जाता है कदाचित् न मिला तो लड़कों में उसका फल देखा जाता है। लड़कों में किसी कारण न भी भया तो पोते या नातियों में तो अवश्य बुराई या भलाई का परिणाम होता ही है कभी व्यर्थ जाता ही नहीं। बुद्धिमानों ने इसी से यह सिद्धान्त कर रक्खा है कि बहू जो अपने घर में आवे वह बहुत ही ऊँचे घराने और सच्चरित्र माँ-बाप की हो; क्योंकि आगे की औलाद का सुधार या बिगाड़ इसी पर निर्भर है। यहाँ पर वृक्ष के सम्बन्ध में एक बात रही

जाती है वह यह कि पेड़ों में पैबन्द या कलम लगाई जाती है आदमियों में वह पैबन्द बिलाइती मेम साथ लिये इंगलैन्ड के लौटे हुये नव-शिक्षित युवक जन हैं। खयाल रहे कि इस तरह से कलमी पेड़ों के फल बहुत मधुर और मनोहर होते हैं पर उनकी गुठली में उत्पादिका शक्ति न होने से बीज उनका बोने से उगता नहीं। यह भी उस महामहिम सर्वशक्तिमान् की महिमा-वारिधि की एक तरंग है नहीं तो हमारी समग्र आर्य जाति इस

"मा पिलंगिनी बाप पिलंग, तिनके लड़के रंग बिरंग"

वाली दोगली नसल से दूषित हो कुछ दिनों में निर्मूल हो जाती।

मई; १९०१

२९—नई वस्तु की खोज

मनुष्य में नई-नई बातों के सुनने की, नये-नये दृश्य देखने की, नई-नई बात सीखने की सदा लालसा रहती है। इन नई-नई वस्तुओं की खोज परिपक्व बुद्धि के हो जाने पर उपजती हो सो नहीं किन्तु लड़कपने ही से जब हम अत्यन्त सुकुमार मति रहते हैं तभी से इसका अंकुर चित्त में जमने लगता है। कोई लड़का कितना ही खेलवाड़ी और आवारा हो या किसी नीचे से नीचा काम में क्यों न लगा हो उसमें भी उसको नये रास्ते की खोज अवश्य होगी।

हमने देखा है जो लोग दिन भर कोई फायदे का लाभदायक काम नहीं करते बरन् खेल ही कूद में समय गवांते हैं उनको भी जिस दिन कोई नया तरीका खेलने या दिल बहलाने का मिल जाता है उस दिन उनको भी खुशी का हाल न पूछिये। परन्तु विचार कर देखिये तो निरे खेल ही कूद में दिन काटना मनुष्यत्व और मनुष्य शब्द के अर्थ पर आक्षेप करना है। क्योंकि हमारे यहाँ के पूर्व-कालिक विद्वानों में आदम (का पर्याय मनुष्य जो रक्खा है वह यही देख कर कि आदमी) अपनी भली-बुरी दशा सोच सकता है। उसके चारो ओर जो संसार के प्राकृतिक कार्य हो रहे हैं उनका भेद ले रहा है; उनकी असलियत दरयाफ्त करना चाहता है; नित नई-नई विद्या और विज्ञान की वृद्धि करता जाता है। अपनी जिन्दगी को मजेदार करने की जरूरियात पैदा करता जाता है; और अपने सोचने की शक्ति के बल उन जरूरियात को पूरा कर अपने जीवन को आराम और सुख देने का ढंग भी बढ़ाता जाता है। आज जो सैकड़ों तरीके आराम पहुँचाने के हम लोगों को मालूम हैं पहले के लोगों को केवल वे मालूम ही नहीं थे बरन् स्वप्न में भी उनके ध्यान में कभी नहीं

आये थे। कुछ ऐसा मालूम होता है कि आदमी का दिमाग कबूतर के दरबों-सा है जिसमें एक समय केवल थोड़े से कबूतर और उनके अंडे बच्चे रह सकते हैं फिर ज्यों-ज्यों इन कबूतरों की वृद्धि बढ़ती जाती है त्यों-त्यों दरबे के खाने भी बढ़ते जाते हैं कदाचित् इसी प्रकार की दशा आदमी के दिमाग और उसमें भरे हुये विषयों की भी है। आप हमको डारविन साहब का पक्का चेला मत समझ लीजियेगा; हम यह नहीं मानते कि पहले लोग कम सोचते थे तो वे बन्दर थे और लोगों के सोचने के विषय अधिक होकर हमारे मस्तिष्क को अधिक पुष्ट कर डाला इसलिये बन्दर से आदमी हो गये!

अस्तु, इस बात के मानने में आप को किसी तरह का उजुर न होगा कि अब देखते ही देखते इन्हीं नई-नई उमदा-उमदा चीजों की खोज ने हजारों नई-नई विद्या निकाली हैं। हमारा केवल विज्ञान सम्बन्धी ही विद्या से प्रयोजन नहीं है किन्तु वे सब शास्त्र और विद्यायें जो मनुष्य को घर-गृहस्थी में उठते-बैठते, चलते फिरते प्रतिक्षण काम में आ सकती हैं और न इसी बात के स्वीकार करने में आपको कुछ पेच-पेच होगा कि इन्हीं सब नई ईजादों का यह फल हुआ कि आदमी की अधिक फुरती या चालाकी पर मानों सान-सी रख दी गई है। हजारों नये-नये शगल[1], सैकड़ों नये-नये धन्धे लोगों को बभा रखने के ऐसे निकले हैं कि पूर्व-कालिक समाज की गढ़न के लिये उनका उपयोगी होना ही असम्भव था। "सर्व साधारण के हित की चीजें" इस जुमले को जितना हम लोग अब सुनते हैं और जितना पिष्ट-पेषण इस पर होता है उतना पूर्व कालिक लोगों के रहन-सहन के ढंग ही पर ध्यान देने से मालूम होता है कि सर्वथा असम्भव था। इस समय यह "सर्वसाधारण" वह प्रबल समूह है जिसने हम लोगों के लिखने के ढंग को, पढ़ने के ढंग को सोचने की

---

[1] काम

प्रणाली को, पुस्तक और किताबों के विषय को, भीतर-बाहर घर-द्वार के बर्ताव को, आने-जाने, उठने-बैठने, रहने-सहने के तरीके को, निज के और विदेशीय लोगों के सम्बन्ध को, कहाँ तक गिनावें देश के देश की दशा को कुछ अनोखे नये ढाँचे में ढाल डाला है। और आशा है कि समाज की पुष्टता के साथ ही साथ इस ढाँचे के रूप रंग और भी दिन-प्रतिदिन पेच-पेंचदार होता जायगा। और नव बातों को अलग रख छापने ही को लीजिये जिसने लोगों के लिखावट का ढङ्ग ही और का और कर डाला। नये-नये विषयों की हजारों किताबें और पुस्तकें निकल चुकी हैं फिर भी लोगों को प्रत्येक विषय के नये-नये प्रस्ताव पढ़ने की इच्छा शान्त नहीं होती। शान्त होने की कौन कहे वरन् बढ़ती ही जाती है; क्योंकि यह शिकायत बहुधा लोगों के मुँह से सुनने में आता है कि कोई नई किताब छपी ही नहीं पढ़ते। हम लोगों ने चोटीले से चोटीला प्रस्ताव भिन्न-भिन्न दिमाग लड़ा कर डाला फिर भी पाठकों की फड़कते हुये मजमून का आर्टिकिल पढ़ने की इच्छा शान्त न हुई।

अस्तु, हम प्रस्तुत का अनुसरण कर नये-नये धन्धों का हाल लिखते हैं। इसे सब लोग मानते हैं कि जो लड़का ताश, शतरंज या चौसर खेला करता है वह समाज में बड़ा आवारा और निकम्मा समझा जाता है। हमने पेरिस के कुछ लोगों का हाल पढ़ा है कि रोज सुबह उठ कर एक तश्तरी में खेल के सब सामान रक्खे हुये (जैसा दो चार गड्डी ताश, शतरंज की बिसात और मोहरें आदि) बाजार में घूमते हैं। बेकार अमीर लोग उनको अपने घर बोलाते हैं; उनके खेल की शरह है जैसा दो घंटे का पाँच रुपया; जो लोग उनको बुलाते हैं वे इसी हिसाब से देते हैं; वे लोग अमीरों के खेलने के वक्त हँसी के किस्सों से खेलने वालों का दिल बहलाया करते हैं। आपने नौवाबों के "दस्तर खान के बिल्लों" यानी मुफ्तखोरों का हाल सुना होगा परन्तु इन पेरिस के मसखरों के टक्कर के लोग शायद हिन्दुस्तान में न

निकलेंगे। जिन्होंने साधारण खेल-कूद में आमदनी की एक ऐसी सूरत अपने लिये निकाल लिया है कि जितनी आमदनी इस देश में बड़ी मेहनत के साथ दिमाग पिच्ची करने पर भी नहीं हो सकती। सिवा इनके बड़े-बड़े अमीरों को नाचना-गाना सिखलाने वाले उस्ताद, चाल में उमदा बर्ताव सिखलाने वाले उस्ताद, मेमों से उमदी तरह सहूलियत के साथ हाथ मिलाना सिखलाने वाले उस्ताद अनगिनती पड़े हैं। आपको शायद ऐसे लोगों के सिखलाने-पढ़ाने का मोल भी सुनने की इच्छा होगी, प्रायः तो दो गिनी फी घंटा निर्ख है और बड़ी आसानी से मिलने से इसका दूना चौगुना हो सकता है।

शायद आप कहें ऐसे लोगों में मनुष्य के सर्वोत्कृष्ट गुण अर्थात् उत्तम-उत्तम विषयों के सोचने की शक्ति तो बहुत खूबी के साथ नहीं पाई जाती। अंगरेजी में मनुष्य के लिये जो शब्द "मैन" है क्या उसके माने सोचने वाले के नहीं हैं? इसका उत्तर हम यही दे सकते हैं कि मनुष्य मात्र के लिये संभव नहीं है कि सभी "मननशील" हों। फिर केवल यही बात नहीं है कि मनुष्य खेल ही कूद या दूसरी सहूलियत और आराम देनेवाली बातों में नई चीज की खोज में लगा है; किन्तु जो बड़े-बड़े गूढ़ और सूक्ष्म विषय हैं उनके सोचने वाले भी नित्य नये रास्ते निकालते ही जाते हैं। आज आदमी के पैदाइश की "थ्योरी" निकली, कल चन्द्रलोक में किस प्रकार की बस्ती है या है नहीं; परसों सूर्य मंडल किस पदार्थ का बना है यह सोचा जाता है; अथवा पदार्थ की चतुर्थ अवस्था दर असल कोई वस्तु है या दार्शनिकों का खयाली पुलाव है; या बुद्धिमानों ने अटकल पच्चू पदार्थ की एक दशा का नाम रख दिया है; ऐसी-ऐसी नित्य एक से एक अचंभे की नई-नई बातें सुनने में बराबर आती जाती हैं। इसलिये यदि कोई यह कह दे कि आज विज्ञान या मनुष्य की कोई विद्या अपने हद्द को पहुँच गई तो यह बड़ी भूल होगी।

हम तो कुछ ऐसा सोचते हैं कि मनुष्य का जन्म ही नई-नई चीजों

के खोजने के लिये हुआ है; इसी से यह सिद्धान्त बड़ा पक्का मालूम होता है कि "दुनिया रोज-रोज तरक्की पाती जाती है" और जो बातें पहले के लोगों के कभी मन में न आई थीं उन्हें अब हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। जब बड़े लोगों का यह हाल है कि दिन-रात उम्दा-उम्दा नई-नई चीज खोज रहे हैं तो हम आप किस गिनती में हैं; कोई बात जो किसी फायदे की न सोच सके तो दिल-बहलाव के क्रम पर नये ढंग का यह लेख ही सही आप के नजर है।

जून १९०१

३० -कौतुक

जिस बात को देख या सुन चित्त चमत्कृत हो सब ओर से खिंच सहसा उस देखी या सुनी बात की ओर झुक पड़े, वह कौतुक है। यह अद्भुत नाम का नौ रसों में एक रस है। गम्भीराशय बुद्धिमानों को कभी किसी बात का कौतुक होता ही नहीं या उनके लेखे यह संपूर्ण संसार केवल कौतुक रूप है जिसमें मनुष्य का जीवन तो महा कौतुक है :—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
शेषाजीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

नित्य-नित्य लोग काल से कवलित हो प्रतिक्षण यममन्दिर की यात्रा का प्रस्थान रक्खे हुए भी जीने की सभी इच्छा करते हैं इससे बढ़ कर कौतुक और क्या होगा। सच है आधि-व्याधि-जरा-जीर्ण कलेवर का क्या ठिकाना? कच्चे धागे के समान दम एकदम में उखड़ जा सकता है मानो सूत का बंधा हाथी चल रहा है। तब हमको अपने जीने का जो इतना अभिमान या फक्र और नाज है सो तअज्जुब ही है। तत्त्वविद इस बड़े तमाशे को देख कर भी कुछ क्षुभित नहीं होते और सदा एक-से स्थिर-चित्त रहते हैं तब छोटे-छोटे बात से उनके लिये कौन बड़ी बात है? अथवा जब कभी ऐसे लोगों का चित्त कौतुक-आविष्ट हु-आ तो साधारण लोगों के समान उनका कौतुकी होना व्यर्थ नहीं होता हम लोग दिन में सैकड़ों बातें कौतुक की देखा करते हैं पर उससे कभी कोई बड़ा फायदा नहीं उठाते। गेलिलियो[1] का एक कौतुकी होना बड़े-बड़े साइन्स की बुनियाद डालने वाला आकर्षण-शक्ति (अट्रेक्शन ऑफ ग्रेवटेशन) के ईजाद का बायस हुआ। ऊपर से नीचे को पदार्थ गिरते ही रहते हैं जिसे देख कभी किसी को कुछ अचरज नहीं होता किन्तु बाग में बैठे हुये गेलिलियो को सेब का पक्का फल पेड़ से नीचे गिरते देख खटक पैदा हो गई और उसी क्षण से इनके मन में तर्क-

---

[1] योरप के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक

वितर्क होने लगा कि क्यों यह फल नीचे गिरा ऊपर को क्यों न चला गया या कोई दूसरी बात इस फल के सम्बन्ध में क्यों न पैदा हो गई? बहुत सा ऊहापोह के उपरान्त यही निश्चय उनके मन में जम गया कि बड़ी चीज छोटी चीज को सदा अपनी ओर खींचा करती है और यही ऐसी ईश्वरीय-अद्भुत-शक्ति है कि जिसके द्वारा यह उपग्रह तारागण इत्यादि संपूर्ण ज्योतिर्ज्ञ अपनी-अपनी कक्षा में कायम हैं। यदि यह शक्ति न होती तो ये बड़े-बड़े ग्रह एक दूसरे से टकरा कर चूर-चूर हो जाते। इसी तरह भाफ की ताकत प्रगट करने वाले जैम्स वाट को आग पर रक्खे हुये डेग के ढकने को खटखटाते हुये देख आश्चर्य हुआ था जिसका फल यह हुआ कि इसको अद्भुत शक्ति जान कर उन्होंने उसे काम में लाय अनेक तरह की ऐसी-ऐसी इनजिनें ईजाद कीं कि आज दिन उसके द्वारा संसार का कितना उपकार साधन किया जाता है। भाँति-भाँति की कलों के द्वारा जो काम होते हैं रेल और जहाज चलाना सब उसी भाफ के गुण प्रगट करने का परिणाम है। ऐसा ही और कितने बड़े-बड़े विद्वान् विज्ञानविद लोगों ने साधारण-सी कौतुक की बातों पर कौतुकों ही बड़े-बड़े काम लिये हैं। अस्तु अब हम कौतुक की एक छोटी सी लिस्ट आपको सुनाते हैं उसे भी सुनते चलिये: सरकारी मुहकमों में पुलिस का मुहकमा कौतुक है। हम लोग भद्दी अकिल हिन्दुस्तानियों के लिये अँग्रेजी राज्य की कतर-ब्योंत कौतुक है। ऐसी ही बुरी तबियत वाले ऐंग्लोइण्डियन के लिये हमारा कांग्रेस का करना कौतुक है। गवर्नमेंट की कृपा पात्र बीबी उर्दू के मुकाबिले सर्वथा सहाय-शून्य हिन्दी का दिन-प्रतिदिन बढ़ते जाना भी कौतुक है। हमी लोगों के बान्व से पैदा हो हमारे ही छाती का बार उखाड़ने वाली गवर्नमेंट की छोटी बहन कुमारी म्युनिसिपैलिटी एक कौतुक है, इत्यादि। जहाँ तक सोचते जाइये एक से एक बढ़ कर कौतुक आपके मनमें अगाह करता जायगा।

अक्टूबर, १८८६.

३१—दौड़-धूप

दौड़-धूप का दरजा कहाँ तक बढ़ा हुआ है इसका अन्त पाना सहज नहीं है। सच पूछो तो संसार में हमारा जीवन सब का सब या कुछ हिस्सा इसका केवल दौड़-धूप है और अब इस अँग्रेजी राज में तो इस दौड़-धूप का अन्त है। दौड़-धूप अपनी हद को पहुँची हुई है। घर में जै प्राणी होंगे सब मिल कर यथोचित दौड़-धूप (स्ट्रगल) करते रहेंगे तभी चलेगा नहीं तो पहिया रुक जायगी। वर्तमान शासन की प्रणाली ने हमारे नेत्र खोल दिये भारत का अब वह समय दूर गया जब एक आदमी कमाता और दस प्राणियों का पूरा-पूरा भरण-पोषण करता रहा। अब उन इस प्राणियों में नौ कमाते हों एक किसी कारण, अपाहिज या निकम्मा निकल गया तो उसका कहीं ठिकाना नहीं। दूसरा कारण एक यह भी मालूम होता है कि देश में धन रह न गया और अल्यूरमेंट्स—मन को लुभाने या फुसलानेवाले चित्ताकर्षक पदार्थ इतने अधिक हो गये हैं कि उन्हें देख जी लुभा उठता है। विना उन्हें खरीदे जी नहीं मानता, न खरीदो तो अपने आराम और आसाइश में फर्क पड़ता है। जिस गृहस्थी का पालन-पोषण साथ-आराम के दस रुपया महीने की आमदनी में होता था वहाँ अब हर एक जिन्स के मँहगे हो जाने से पच्चीस रुपये महीने की आमदनी पर भी नहीं चलता। इस दौड़-धूप में एक दूसरे के मुकाबिले आगे बढ़ जाने की चेष्टा जिसे अँगरेजी में "कंपिटीशन" और हमारी बोलचाल में हिसका या उतरा-चढ़ी कहेंगे कोढ़ में खाज के समान है।

इस उतरा-चढ़ी में बहुत से गुण हैं पर कई एक दोष भी इसमें ऐसे प्रबल हैं जिससे हमारी बड़ी हानि हो रही है। एक ही बात के लिये दो प्रतिद्वन्द्वियों के होते आपस में दोनों की उतरा-चढ़ी (कंपिटीशन) होने पर दोनों जी खोल कोशिश करते हैं जो कृतकार्य होता है उसके हर्ष सीमा नहीं रहती। हमारे अपढ़ रुपये वाले जिन्हें

न इतनी अकिल न हिम्मत न शऊर कि बाहर निकल कदम बढ़ावें घर के भीतर ही रहा चाहें इस उतरा-चढ़ी में आय आपस में कट मरते हैं। अफीम, भांग इत्यादि के ठीकों में ऐसा बहुधा देखा जाता है। इन अहमकों की उतरा-चढ़ी में प्रजा का धन खूब लुटता है। विदेशी राजा ठहरा, कर्मचारी ऐसी हिकमत काम में लाते हैं कि उतरा-चढ़ी में इन महाजनों का टेंडर हर साल बढ़ता ही जाय। ऐसा ही दो धनियों में आपस की स्पर्द्धा हो गई तो दोनों छोर में मिल जाते हैं। दो विद्यार्थियों में स्पर्द्धा का होना दोनों के लिये बहुत उपकारी है। एक दूसरे में स्पर्द्धा ही से यह संसार चल रहा है। संसार या संसृति के माने ही दौड़-धूप है और दौड़-धूप की अन्तिम सीमा प्रतिस्पर्द्धा या उतरा-चढ़ी है। कुलीनता का घमण्ड दूसरे प्रतिस्पर्द्धा इन दोनों से हमारा समाज अर्जरित होता जाता है। ब्याह-शादियों में करतूत का बढ़ जाना जिससे बहुधा लोग कर्जदार हो बिगड़ जाते हैं यह सब इसी उतरा-चढ़ी का प्रतिफल है। उतरा-चढ़ी "कंपिटीशन" न हो तो केवल दौड़-धूप (स्ट्रगल) को बुरी न कहेंगे।

इधर हिन्दुस्तान का अधःपात आलस्य और सुस्ती ही से हुआ जब तक देश रंजा-पुजा था लोग हाथ पर हाथ रक्खे पागुर करते बैठे रहे। विलायती पंप के द्वारा जब सब रस खिंच गया तो अब चेत आई। भाँति-भाँति की दौड़-धूप में लोग अब इस समय लग रहे हैं पर वह पम्प ऐसा तले तक गड़ गया है कि हमारी दौड़-धूप का भी सारांश उसी पम्प में खिंच जाता है। हाँ इस कदर दौड़-धूप करने से पेट अलबत्ता पाल लेते हैं। इतना परिश्रम न करें तो कदाचित् भूखों मर जाँय। धन्य भारत के वे दिन जब शान्ति-देवी के उपासक हमारे ऋषि मुनि अपने पुण्याश्रम में आध्यात्मिक चिन्तन में अपना काल बिताते हुये दौड़-धूप और फिकिर चिन्ता का नाम भी नहीं जानते थे। भारत की परम उन्नति का समय वही था।

जुलाई, १९०६

३२—बातचीत

इसे तो सभी स्वीकार करेंगे कि अनेक प्रकार की शक्तियाँ जो वरदान की भाँति ईश्वर ने मनुष्यों को दी हैं, उनमें वाक्शक्ति भी एक है। यदि मनुष्य की और-और इन्द्रियाँ अपनी-अपनी शक्तियों से अविकल रहतीं और वाक्शक्ति उनमें न होती तो हम नहीं जानते इस गूँगी सृष्टि का क्या हाल होता। सबलोग लुंज-पुंज-से हो मानो एक कोने में बैठा दिये गये होते और जो कुछ सुख-दुःख का अनुभव हम अपनी दूसरी-दूसरी इन्द्रियों के द्वारा करते उसे अवाक् होने के कारण आपस में एक दूसरे से कुछ न कह सुन सकते। अब इस वाक्शक्ति के अनेक फायदों में "स्पीच" वक्तृता और बातचीत दोनों हैं किन्तु स्पीच से बातचीत का कुछ ढङ्ग ही निराला है। बातचीत में वक्ता को नाज-नखरा जाहिर करने का मौका नहीं दिया जाता कि वह एक बड़े अन्दाज से गिन-गिन कर पाँव रखता हुआ पुलपिट पर जा खड़ा हो और पुण्याहवाचन या नान्दीपाठ की भाँति घड़ियों तक साहबान मजलिस, चेयरमैन, लेडीज एँड जेंटिलमेन की बहुत सी स्तुति कर कराय तब किसी तरह वक्तृता का आरम्भ किया गया। जहाँ कोई मर्म या नोक की कोई चुटीली बात वक्ता महाशय के मुख से निकली कि करतल-ध्वनि से कमरा गूँज उठा। इसलिए वक्ता को खामखाह ढूँढ़ कर कोई ऐसा मौका अपनी वक्तृता में लाना ही पड़ता है जिसमें करतल-ध्वनि अवश्य हो। वहीं हमारी साधारण बातचीत का कुछ ऐसा घरेलू ढङ्ग है कि उसमें न करतलध्वनि का कोई मौका है न लोगों को कहकहे उड़ाने की कोई बात उसमें रहती है। हम तुम दो आदमी प्रेमपूर्वक संलाप कर रहे हैं कोई चुटीली बात आगई हँस पड़े तो मुसकिराहट से होठों का केवल फरक उठना ही इस हँसी की अन्तिम सीमा है।

स्पीच का उद्देश्य अपने सुनने वालों के मन में जोश और उत्साह पैदा कर देना है। घरेलू बातचीत मन रमाने का एक ढङ्ग है इसमें स्पीच की वह सब संजीदगी बेकदर हो धक्के खाती फिरती है।

जहाँ आदमी को अपनी जिन्दगी मजेदार बनाने केलिए खाने-पीने चलने-फिरने आदि की जरूरत है वहाँ बातचीत की भी हमको अत्यन्त आवश्यकता है। जो कुछ मवाद या धुआँ जमा रहता है वह सब बातचीत के जरिये भाफ बन बाहर निकल पड़ता है चित्त हलका और स्वच्छ हो परम आनन्द में मग्न हो जाता है। बातचीत का भी एक खास तरह का मजा होता है। जिनको बात करने को लत पड़ जाती है वे इसके पीछे खाना-पीना तक छोड़ देते हैं अपना बड़ा हर्ज कर देना उन्हें पसन्द आता है पर बातचीत का मजा नहीं खोया चाहते। राबिनसन क्रूसो का किस्सा बहुधा लोगों ने पढ़ा होगा जिसे सोलह वर्ष तक मनुष्य का मुख देखने को भी नहीं मिला। कुत्ता, बिल्ली आदि जानवरों के बीच रहा किया; सोलह वर्ष के उपरान्त जब उसने फ्राइडे के मुख से एक बात सुनी, यद्यपि इसने अपनी जंगली बोली में कहा था, उस समय राबिनसन को ऐसा आनन्द हुआ मानो इसने नये सिरे से फिर से आदमी का चोला पाया। इससे सिद्ध होता है मनुष्य की वाक्शक्ति में कहाँ तक लुभा लेने की ताकत है। जिनसे केवल पत्र-व्यवहार है कभी एक बार भी साक्षात्कार नहीं हुआ उन्हें अपने प्रेमी से कितनी लालसा बात करने की रहती है। अपना आभ्यन्तरिक भाव दूसरे को प्रकट करना और उसका आशय आप ग्रहण कर लेना केवल शब्दों ही के द्वारा हो सकता है। सच है :—

"तामर्द सखुन गुफ्ता बाशद।
ऐबो हुनरश निहफ्ता बाशद"

"तावच्च शोभते मूर्खो यावत्किञ्चिन्न भाषते"

बेन जानसन का यह कहना कि—"बोलने से ही मनुष्य के रूप का साक्षात्कार होता है" बहुत ही उचित बोध होता है।

इस बातचीत की सीमा दो से लेकर वहाँ तक रक्खी जा सकती है जितनों की जमात मीटिंग या सभा न समझ ली जाय। एडिसन का मत है असल बातचीत सिर्फ दो में हो सकती है जिसका तात्पर्य यह हुआ कि जब दो आदमी होते हैं तभी अपना दिल दूसरे के सामने खोलते हैं जब तीन हुये तब वह दो की बात कोसों दूर गई। कहा है—

"षट्कर्णो भिद्यते मंत्रः"

दूसरे यह कि किसी तीसरे आदमी के आ जाते ही या तो दोनों हिजाब में आय अपनी बातचीत से निरस्त हो बैठेंगे या उसे निपट मूर्ख और अज्ञानी समझ बनाने लगेंगे। इसी से—

"द्वाभ्यां तृतीयो न भवामि राजन्"

लिखा है जैसा गरम दूध और ठंढे पानी के दो बर्तन पास-पास साट के रक्खे जाँय तो एक का असर दूसरे में पहुँचता है अर्थात् दूध ठंढा हो जाता है और पानी गरम-वैसा ही दो आदमी पास-पास बैठे हों तो एक का गुप्त असर दूसरे पर पहुंच जाता है। चाहे एक दूसरे को देखे भी नहीं तब बोलने की कौन कहे पर एक का दूसरे पर असर होना शुरू हो जाता है एक के शरीर की विद्युत दूसरे में प्रवेश करने लगती है। जब पास बैठने का इतना असर होता है तब बातचीत में कितना अधिक असर होगा इसे कौन न स्वीकार करेगा। अस्तु, अब इस बात को तीन आदमियों के संगम में देखना चाहिये मानों एक त्रिकोण सा बन जाता है तीनों का चित्त मानों तीन कोण हैं और तीनों की मनोवृत्ति के प्रसरण की धारा मानो उस त्रिकोण की तीन रेखायें हैं। गुपचुप असर तो उन तीनों में परस्पर होता ही है जो बातचीत तीनों में की गई वह मानों अंगूठी में नग-सा जड़ जाती है। उपरान्त जब चार आदमी हुये तब बेतक्लुफी को बिल्कुल स्थान नहीं रहता खुल के बातें न होंगी जो कुछ बातचीत की जायगी वह "फार्मेलिटी"

गौरव और संजीदगी के लच्छे में सनी हुई। चार से अधिक की बात चीत तो केवल राम रमौवल कहलायगी उसे हम संलाप नहीं कह सकते।

इस बातचीत के अनेक भेद हैं। दो बुड्ढों की बातचीत प्रायः जमाने की शिकायत पर हुआ करती है, बाबा आदम के समय का ऐसा दास्तान शुरू करते हैं जिसमें चार सच तो दस झूँठ। एक बार उनकी बातचीत का घोड़ा छुट जाना चाहिये पहरों बीत जाने पर भी अन्त न होगा। प्रायः अंग्रेजी राज्य पर देश और पुराने समय की बुरी से बुरी रीति नीति का अनुमोदन और इस समय के सब भाँति लायक नौजवान की निन्दा उनकी बातचीत का मुख्य प्रकरण होगा। अब इसके विपरीत नौ जवानों की बातचीत का कुछ तर्ज ही निराला है। जोश-उत्साह, नई उमंग, नया हौसिला आदि मुख्य प्रकरण उनकी बातचीत का होगा। पढ़े लिखे हुये तो शेक्सपियर, मिलटन, मिल और स्पेन्सर उनके जीभ के आगे नाचा करेंगे अपनी लियाकत के नशे में चूरंचूर हमचुनी दीगरे नेस्त। अक्खड़ कुश्तीबाज हुये तो अपनी पहलवानी और अक्खड़पन की चर्चा छेड़ेंगे। आशिकतन हुये तो अपने अपने प्रेमपात्री की प्रशंसा तथा आशिकतन बनने की हिमाकत की डींग मारेंगे। दो हाल-यौवना हमउमर सहेलियों की बातचीत का कुछ जायका ही निराला है रस का समुद्र मानो उमड़ा चला आ रहा है इसका पूरा स्वाद उन्हीं से पूछना चाहिये जिन्हें ऐसों की रस-सनी बातें सुनने को कभी भाग्य लड़ा है।

> "प्रजल्पन्मत्पदे लग्नः कान्तः किं" ? नहि नूपुरः।
> "वदन्ती जारवृत्तान्तं पत्यौ धूर्ता सखी धिया॥
> पतिं बुद्ध्वा सखि ततः प्रबुद्धास्मीत्यपूरयत्"।

अर्द्धजरती बुढ़ियाओं की बातचीत का मुख्य प्रकरण बहू-बेटी वाली हुई तो अपनी अपनी बहुओं या बेटों का गिला-शिकवा होगा या बिरादराने का कोई ऐसा राम-रसरा छेड़ बैठेंगी कि बात करते-करते

अन्त में खोड़ दाँत निकाल-निकाल लड़ने लगेंगी। लड़कों की बात-चीत में खेलाड़ी हुये तो अपनी अपनी आवारगी को तारीफ करने के बाद कोई ऐसी सलाह गाठेंगे जिसमें उनको अपनी शैतानी जाहिर करने का पूरा मौका मिले। स्कूल के लड़कों की बातचीत का उद्देश्य अपने उस्ताद की शिकायत या तारीफ या अपने सहपाठियों में किसी के गुनऐगुन का कथोपकथन होता है। पढ़ने में तेज हुआ तो कभी अपने मुकाबिले दूसरे को कैफियत न देगा सुस्त और बोदा हुआ तो दबी बिल्ली सी स्कूल भर को अपना गुरू ही मानेगा। अलावे इसके बातचीत को और बहुत सी किसमें हैं राजकाज की बात, ब्यौपार सम्बन्धी बातचीत, दो मित्रों में प्रेमालाप इत्यादि। हमारे देश में नीच जाति के लोगों में बात-कही होती है लड़का लड़के वाले की ओर से। एक-एक आदमी बिचवई होकर दोनों के विवाह सम्बन्ध की कुछ बातचीत करते हैं उस दिन से बिरादरी वालों को जाहिर कर दिया जाता है कि अमुक की लड़की से अमुक के लड़के के साथ विवाह पक्का हो गया और यह रसम बड़े उत्साह के साथ की जाती। एक चंडूखाने की बातचीत होती है इत्यादि, इस बात करने के अनेक प्रकार और ढङ्ग हैं।

यूरोप के लोगों में बात करने का एक हुनर है "आर्ट आफ कनवरसेशन" यहाँ तक बढ़ा है कि स्पीच और लेख दोनों इसे नहीं पाते। इसकी पूर्ण शोभा काव्यकला प्रवीण विद्वन्मण्डली में है। ऐसे ऐसे चतुराई के प्रसंग छेड़े जाते हैं कि जिन्हें सुन कान को अद्भुत सुख मिलता है सहृदय गोष्ठी इसी का नाम है। सहृदय गोष्ठी के बातचीत की यही तारीफ है कि बात करने वालों की लियाकत अथवा पाण्डित्य का अभिमान या कपट कहीं एक बात में न प्रगट हो वरन् जितने क्रम रसाभास पैदा करने वाले सबों को बरकाते हुये चतुर सयाने अपनी बातचीत का उपक्रम रखते हैं जो हमारे आधुनिक शुष्क पण्डितों की बातचीत में जिसे शास्त्रार्थ कहते हैं कभी आवे ही गा नहीं। मुर्ग और

बटेर की लड़ाइयों की झपटा-झपटी के समान जिनकी नीरस काँव-काँव में सरस संलाप का तो चर्चा ही चलाना व्यर्थ है वरन् कपट और एक दूसरे को अपने पाण्डित्य के प्रकाश से बाद में परास्त करने का संघर्ष आदि रसाभास की सामग्री वहाँ बहुतायत के साथ आप को मिलैगी। घण्टेभर तक काँव-काँव करते रहेंगे तय कुछ न होगा। बड़ी-बड़ी कम्पनी और कारखाने आदि बड़े से बड़े काम इसी तरह पहले दो चार दिली दोस्तों की बातचीत ही से शुरू किये गये उपरान्त बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक बढ़े कि हजारों मनुष्यों की उससे जीविका और लाखों की साल में आमदनी उसमें है। पचीस वर्ष के ऊपर वालों की बातचीत अवश्य ही कुछ न कुछ सार गर्भित होगी। अनुभव और दूरन्देशी से खाली न होगी और पच्चीस से नीचे वालों की बातचीत में यद्यपि अनुभव दूर दर्शिता और गौरव नहीं पाया जाता पर इसमें एक प्रकार का ऐसा दिल बहलाव और ताजगी रहती है कि जिसकी मिठास उससे दसगुना अधिक चढ़ी-बढ़ी है।

यहाँ तक हमने बाहरी बातचीत का हाल लिखा जिसमें दूसरे फरीक के होने की बहुत ही आवश्यकता है। बिना किसी दूसरे मनुष्य के हुए जो किसी तरह सम्भव नहीं है और जो दो ही तरह पर हो सकती है या तो कोई हमारे यहाँ कृपा करे या हमीं जाकर दूसरे को सर्फराज करें। पर यह सब तो दुनियादारी है जिसमें कभी कभी रसाभास होते देर नहीं लगती क्योंकि जो महाशय अपने यहाँ पधारें उनकी पूरी दिलजोई न हो सकी तो शिष्टाचार में त्रुटि हुई। अगर हमीं उनके यहाँ गये तो पहले तो बिना बुलाये जाना ही अनादर का मूल है और जाने पर अपने मन माफिक बर्ताव न किया गया तो मानो एक दूसरे प्रकार का नया घाव हुआ इस लिये सब से उत्तम प्रकार बातचीत करने का हम यही समझते हैं कि हम वह शक्ति अपने में पैदा कर सकें कि अपने आप बात कर लिया करें। हमारी भीतरी मनोवृत्ति जो प्रतिक्षण नये-नये रंग दिखलाया करती है और जो बाह्य प्रप-

चात्मक संसार का एक बड़ा भारी आईना है जिसमें जैसी चाहो वैसी सूरत देख लेना कुछ दुर्घट बात नहीं है और जो एक ऐसा चमनिस्तान है जिसमें हर किस्म के बेल-बूटे खिले हुये हैं इस चमनिस्तान की सैर क्या कम दिल-बहलाव है ? मित्रों का प्रेमालाप कभी इसकी सोलहवीं कला तक भी पहुँच सकता है ? इसी सैर का नाम ध्यान या मनोयोग या चित्त का एकाग्र करना है जिसका साधन एक दो दिन का काम नहीं वरन् साल दो साल के अभ्यास के उपरान्त यदि हम थोड़ा भी अपनी मनोवृत्ति स्थिर कर अवाक् हो अपने मन के साथ बातचीत कर सकें तो मानो अति भाग्य है। एक वाक्-शक्तिमात्र के दमन से न जानिये कितने प्रकार का दमन हो गया। हमारी जिह्वा जो कतरनी के समान सदा स्वच्छन्द चला करती है उसे यदि हमने दबा कर अपने काबू में कर लिया तो क्रोधादिक बड़े-बड़े अजेय शत्रुओं को बिन प्रयास जीत अपने वश कर डाला। इस लिये अवाक् रह अपने आप बात-चीत करने का यह साधन यावत् साधन का मूल है, शान्ति का परम पूज्य मन्दिर है, परमार्थ का एकमात्र सोपान है।

अगस्त, १८९१

३३—संग्राम

आज कल जब लोगों का चित्त ट्रान्सवाल युद्ध के बारे में घुम रहा है—संग्राम है क्या ? और इसका क्या परिणाम होता है ? यह सब लिखा जाय तो हम समझते हैं असामयिक और अरोचक न होगा। संग्राम बहुत पुराने समय से होता आया है वेदों में तो अध्याय के अध्याय ऐसे ही पाये जाते हैं जिनमे व्यूह-रचना एक एक अस्त्र-शस्त्र के अभिमंत्रण और उनका शत्रुओं पर प्रयोग करने के क्रम और तरीके लिखे हुये हैं। और अब इस समय तो यूरोप और अमेरिका में रोज नई-नई तरह की बन्दूक और तोपों के ईजाद से युद्ध करने का हुनर तरक्की के ओर-छोर को पहुँचा हुआ है। यद्यपि सब दार्शनिक ज्ञानी विद्वान् इसमें एक मत हो कह रहे हैं कि लड़ाई करना बुरा है, तथापि खेद का विषय है कि यह कभी बन्द न हुई वरन् ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जाती है डैनामाइट, आदि, नये-नये तरह की पाउडर और, लड़ाई की कलें निकलती आती हैं। युद्ध के नये-नये अस्त्र-शस्त्र में सुधराई होती जाती है और संग्राम में मृत मनुष्यों की संख्या बढ़ती जाती है।

कुछ लोग कहेंगे संग्राम में जो शत्रु के सम्मुख तन त्यागते हैं, वीर-गति पाते हैं और सूर्य-मण्डल भेद कर सीधे स्वर्ग को जाते हैं।

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
योगेन त्यजते प्राणान् रणे चाभिमुखे हतः॥"

इसलिये कि बहुधा लोग अपने देश या जाति के लिये प्राण देते हैं और फिर युद्ध करना क्षत्रियों का मुख्य धर्म है। "क्षात्र धर्म की थाप रखना अपना परताप। चाहो आगे आवे बाप तहू चाप खैचना।" अब लड़ना क्षात्र-धर्म की थाप अर्थात् प्रतिष्ठा है तो इसमें क्या बुराई है। ऐसों से हमारा यह प्रश्न है कि जब किसी को पीड़ा या दुख

पहुँचाना महा पाप है "पापाय परपीडनम्" तब रणक्षेत्र में तो न जानिये कितने लोगों को पीड़ा कैसी वरन् उनका वध हो जाता है। आप के घर में दो चार डाकू या चोर जबरदस्ती घुस आवें और दो चार सौ की पूँजी छीन ले जायँ दो चार मनुष्यों को घायल भी कर डालें तो आप को कितना क्रोध होगा और उन डाकुओं को फँसाने और दण्ड दिलवाने का आप कितना यत्न करेंगे। यदि आप के छोटे-से घर के बदले एक बड़ा सा गाँव या देश हो और दो-चार सौ की पूँजी की जगह लाखों या करोड़ों की जमा हो; दो-चार डाकुओं के बदले सेना की सेना ने आक्रमण किया हो और दो-चार घायल मनुष्यों के एवज हजारों लाखों की जान गई हो तो यह क्या अच्छा होगा? थोड़े से धन वा थोड़ी-सी पृथ्वी के वास्ते लाखों की जान लेना या किसी बात के हठ में आय लाखों करोड़ों रुपया बरबाद करा देना क्या उचित होगा? जितना रुपया प्रति वर्ष इन लड़ाइयों में व्यय किया जाता है वह न जानिये कितने आवश्यक कामों के लिये काफी होता। हमारे खेतिहर बेचारे बड़े-बड़े कष्ट सह जो रुपया सर्कार को देते हैं वह रुपया बारूद और गोलों के ज़रों में फुक जाना क्या अनुचित नहीं है।

लोग कहते हैं; जैसे-जैसे समय बीतता है हम अधिक-अधिक सभ्य होते जाते हैं। क्या सभ्यता का यही चिन्ह है कि केवल पृथ्वी और धन के लोभ से सैकड़ों हजारों की जान गँवाई जाय? वान्द लोग और फीजी टापू के रहने वालों को हम लोग असभ्य और जंगली कहते हैं सो इसी लिये कि सुकृत, भलाई, अनुग्रह, दया, क्षमा इत्यादि गुण जो ईश्वर की ओर से मनुष्यों में दिये गये हैं और जिसके कारण वह सब जीवों में श्रेष्ठ माना गया है वे सब गुण उन जंगली लोगों में नहीं हैं। हम जो उन्हें पापी, दुराचारी, असभ्य कहते हैं सो इसीलिये कि वे मनुष्यों को मार उन्हें खा जाते हैं। परन्तु उनको जो रणक्षेत्र में उदारता, दया और कोमलता को ताक पर रख सैकड़ों हजारों वरन् लाखों की जान ले विजय की खुशी मनाते हैं; उन्हें

हम वीर कह सराहते हैं और उनकी बड़ी प्रशंसा करते हैं; सर्कार से उन्हें बड़े-बड़े तगमे और खिताब दिये जाते हैं। किसी मनुष्य को जो बात उसके चित में है और जो वह कहता है उसके अतिरिक्त कुछ कहे तो हम उसे झूठा और मिथ्यावादी कहते हैं। पर वही बात यदि कोई राज मंत्री कहे और उसके द्वारा स्वार्थ साधन कर दूसरों को हानि पहुँचावे तो उसे हम राज नीतिज्ञ कहते हैं। जो काम खान्द जाति के लोग या फीजी टापू के रहने वाले करके दुष्ट और पापिष्ट कहे जाते हैं वही यदि जापान या जर्मनी के रहने वाले करें तो वीर हैं। जो झूठ और बनावट अदालत के कसूरवार को ७ वर्ष का कैदी कर देता है वहां आक्रमणकारी देशों के सेनापतियों अथवा और-और कर्म-चारियों के लिये राजनीतिज्ञता है।

मनुष्य में जहाँ बहुत-सी तामसी या शैतानी प्रकृति है उनमें लड़ना भी एक है किन्तु उसी के साथ कितने उत्तम गुण भी उसमें हैं। एक समय मनुष्य क्रोध-वश या लालच में पड़ कोई बुरा काम करता है तो पीछे भी पछताता है और मान लेता है की हम से बुरा बन पड़ा और उस बात का प्रण करता है कि अब हम से ऐसा काम न बन पड़े। अवश्य यह बात मनुष्य में अच्छी है; यदि उसमें दोष हो और वह जान जाय कि यह हमारे में दोष है तो आगे के लिए यह एक भलाई का चिन्ह है; और यदि उस दोष को वह दोष मानता ही नहीं तो लाचारी है। हमें बड़ा खेद है कि आज-कल हमारी सभ्यता में संग्राम के लिये उत्साह का होना जो बड़ा दोष लग रहा है हम उसे दोष मानते ही नहीं वरन्, उस दोष के और अधिक फैलाने के लिये लोगों को प्रोत्साहित करते हैं।

यह बात सत्य है कि किसी-किसी समय हमें लड़ाई करने के लिये लाचार हो जाना पड़ता है और उस समय न लड़ना ही अधम और बुरा काम है परन्तु दो एक उदाहरण से हम उस तरह की और-और बातों को जो अच्छा सिद्ध करें तो ऐसा मान लेना भी हमारी भूल

होगी। यदि ऐसा होता कि कभी कुछ मनुष्यों में लड़ाई हो जाती तो हम उसको मनुष्य का एक स्वभाव समझते परन्तु इन दिनों लड़ाई तो एक बड़ा भारी गुण समझा जाता है जिसका यूरोप की सभ्य जाति बड़ा पोषण कर रही है। जहाँ अनेक शिल्प और विज्ञान में वे लोग एकता हो रहे हैं वहाँ लड़ने भिड़ने के सामान और हुनर भी तरक्की के अन्त के छोर तक पहुँच गये हैं। और शिल्प-विज्ञान की तरक्की की तरह इसकी तरक्की भी सभ्य जाति का एक अङ्ग हो रही है। ऐसी समझ रखने वालों को हम मूर्ख नहीं तो क्या कहें? आदमी की जान और शरीर कोई कागज़ का पुतला नहीं है जिसके नाश होने या बनने में कुछ हानि नहीं है।

एक समय एक बड़े प्रतिष्ठित राजनीतिज्ञ ने कहा था "इस बात की कि कितने आदमी लड़ाई में मारे जाते हैं मुझे कुछ भी परवाह नहीं है। मनुष्य को तो एक दिन मरना ही है तब इसके विचार का क्या अवसर है की वह कब मरा और कैसे मरा था।" मुझे तो कुछ ऐसा ज्ञान पड़ता है कि जिस महाशय ने यह कहा था उन्होंने मनुष्य के अनमोल जीवन का कितना मूल्य है कभी नहीं सोचा कहने को चाहे जो जैसा कह डाले किन्तु उनके चित्त से तो पूछो जिनके पति जिनके पिता जिनके भाई और जिनके लड़के मारे गये हैं' उन अबोध बालक बालिकाओं से तो पूछो जो कल आनन्द में मग्न खेल रहे थे आज अनाथ हो दाने तक को तरसने लगे; उस कुलीन अबला से पूछो कल जो पति की सेवा-टहल और दर्शन से जन्म सफल मानती थी, आज रँड़ापे का दुःख झेलते अपना जीवन उभार मान रही है। सारा जगत उसके वास्ते काँटा हो रहा है। न जानिये कितने नई जवानी के खिलते हुये फूल गोलों और छूरें की चोट से टुकड़े-टुकड़े हो गये तलवार और बरछी के आघात से ऐंठ के रह गये। कभी एक मनुष्य को भी अपमृत्यु गाड़ी इत्यादि से दब के मरते देख कितना खेद होता है किन्तु ऐसे रणक्षेत्र को देख

जहाँ लाखों मनुष्यों के शव को कुत्ते, कौवे, सियार,गिद्ध, अपनी अपनी ओर नोच-खसोट, कलोलें करते हुये पाये जाते हैं चित्त पर कैसा असर होता होगा! धन्य हैं वे साहसी वीर पुरुष जो प्राण को पत्ते पर रख ऐसे स्थान में भी निर्भय रह वीरता के जोश में भरे हुये पीछे कदम न धर शत्रु के सन्मुख आगे बढ़ते ही जाते हैं। जो कुछ आदर, गौरव और मान इन वीर पुरुषों का किया जाय वह सब कम है; इनके बराबर का दरजा न तो बड़े से बड़े विद्वान् का है; न बड़े प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ का है; न किसी नामी विज्ञान्‌विद कला-कोविद् (सायन्टिस्ट या आर्टिस्ट) का है। संसार भर में वध, बन्धन आदि अपमृत्यु से मरे हुओं की संख्या अवश्य उससे कितनी कम होगी जितनी अभी हाल में ट्रान्सवाल युद्ध में मारे गये की है। किन्तु ऐसी लड़ाई देवासुर संग्राम, राम रावण युद्ध या प्युनिकवार से शुरू कर अब तक में न जानिये कितनी हो चुकी होंगी जिनमें कितने लोगों की जान गई होगी और कितने धन का अपव्यय हुआ होगा। इन्हीं सब बातों को देखभाल विद्वान् ज्ञानी जन के चित्त में तर्क-वितर्क उठता है कि संग्राम क्यों होता है और इसका क्या परिणाम है? यदि किसी कुशल राजनीतिज्ञ राज-मंत्री से यह प्रश्न पूछा जाय तो वह बहुधा यही उत्तर देगा कि अमुक जाति या देश के लोग हम से डरते नहीं। सरकश हो गये, हमारा इताअत नहीं कुबूल करते; वरन् औरों पर अत्याचार करते हैं उन्हें अपना वशंवद बनाये रखने को इस युद्ध का आरंभ किया गया है। ऐसे-ऐसे कोई बहाने अपनी सफाई रखने का ढूँढ़ लेते हैं। किन्तु वास्तव में जब उनका वैभवोन्माद सीमा को अतिक्रमण कर लेता है धन, प्रभुता और वीरता का अभिमान बढ़ जाता है तभी लड़ना सूझता है ऐसों ही के पक्ष में संग्राम सर्वथा बुरा और अनुचित है। नहीं तो किसी ने ठीक कहा है—शस्त्र की विद्या सब विद्याओं से श्रेष्ठ हैं, शस्त्र के द्वारा जब राज्य की रक्षा हो सब भाँति स्वस्थ रहता है तब पढ़ना लिखना धर्म-कर्म, भोग-विलास सब सूझता है।

"शस्त्रविद्या स्वभावेन सर्वाभ्योऽपि महीयसी ।
शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचिन्ता प्रवर्तते ॥"

इन दिनों स्वार्थी, उन्मत्त, अविवेकी, कुटिल राजनीतिज्ञों ने संग्राम को ऐसा घिन के लायक कर दिया कि जिससे सिवाय हानि के लाभ का कहीं लेश भी नहीं है । ईश्वर ऐसों को सुमति दे जिसमें वे अपनी कुटिलाई के एच-पेच काम में न लाया करें तो संग्राम न हुआ करे लाखों जान कृतान्त के कर-ग्रहण से बची रहे और प्रजा का कल्याण हो ।

अप्रैल, १६००

३४—सोना

मैं समझता हूँ सोने के समान दूसरा सुख कदाचित न होगा। भाँति-भाँति के व्याधि-ग्रसित मनुष्य-जन्म में यदि कोई सच्चा सुख संसार में है तो सोने में है। किन्तु वह सुख तभी मिलता है जब सोने का ठीक ठीक बर्ताव किया जाय। इस सोने को आप चाहे जिस अर्थ में लीजिये निद्रा या धन बात वही है फर्क सिर्फ इतना ही है कि रात का सोना सब को मनमाना मिल सकता है धातु वाला सोना सब के पास उतने ही अन्दाजे से नहीं आता। दूसरे इतने परिश्रम से मिलता है कि दाँतों पसीने आते हैं। हम अपने विचार-शील पढ़ने वालों से पूछते हैं सोने के इन दो अर्थों में आप किसे अच्छा समझते हैं ? क्यों साहब रात वाला सोना तो अच्छा है न ? इसलिए कि यह कंगाल या धनी सब को एक-सा मयस्सर है। धनी को मखमली कोच पर जो निद्रा आवेगी कंगाल को वही कंकड़ों पर। कहा भी है—

"निद्रातुराणां नच भूमिशैया"

जिससे सिद्ध होता है कि जो प्रकृति-जन्य पदार्थ हैं उसके मुकाबिले कृत्रिम बनावटी की कोई कदर नहीं है: जैसा मलयाचल की त्रिविध समीरण के आगे खस की टट्टियों से आती हुई थरमॅटोडोट की हवा को कभी आप अच्छा न कहियेगा। किन्तु फिर भी जैसा हम ऊपर कह आए हैं कि सोने के ठीक-ठीक बर्ताव ही से सब सुख मिल सकते हैं; इसके ठीक-ठीक बर्ताव में गड़बड़ हुआ कि यही सोना आपका जानी दुश्मन हो जायगा और सकार के स्थान में आपको रकार-देश हन सूझने लगेगा; पर किफायत और उचित बर्ताव इसका रखिये तो सोना और सुगन्ध वाली कहावत सुघटित होगी। एक सोने वाला जुआरी एक बार बहुत-

सा रुपया हार गया तो बोला क्या परवाह दूसरे दाँव में इसका दूना जीत लूंगा पर दूसरी बार जुआ में जो कुछ पहले का था सो भी निकल गया। ऐसा ही एक सोने वाला विद्यार्थी बड़ा होने पर बहुधा अपने मित्रों से कहा करता मैं जवानी में सो कर इतनी देर तक उठता था कि आज हिसाब लगाता हूँ तो ३० वर्ष में २२ हजार के लगभग घंटे मैंने बेफाइदे खोये। याद रहे अगर आप रात वाले सोने का वाजिबी बर्ताव करते रहोगे तो धातु वाला सोना आप से आप आ मिलैगा। निश्चय जानिये मनुष्य के लिये कोई वस्तु अप्राप्य नहीं है यदि चित दै हम उसे लिया चाहैं। सोना वह वस्तु है कि इससे रोगियों का रोग, दुखियों का दुःख थके हुओं की थकावट जाती रहती है। वैद्यक वाले लिख भी गये हैं:—

"अर्द्ध रोग हरी निद्रा सर्वरोग हरी क्षुधा"

घोर सन्निपात हो गया, दिन रात तलफ रहा है, एक क्षण भी कल नहीं पड़ती, दस मिनट की एक झाँप आ गई रोग आधा हो जाता है जीने की आशा बँध जाती है। अस्तु, यहाँ तक तो हमने मिला के कहा अब अलग-अलग लीजिये। रात को बिना सोये बादशाह को भी आराम नहीं पहुँचता सारी दुनिया का सोना चाहे घर में भरा हो जब तक न सोइये चैन न पाइयेगा। सब दौलत और माल असबाब को ताक पर रख दीजिये और इस आरामदेह फरिश्ते के जरूर कैदी बनिये। अगर आपका दिल सैकड़ों झंझट और फिकरों के बोझ से लदा हुआ है यहाँ तक कि उस बोझ को अलग फेंक घड़ी-आध-घड़ी कहीं किसी पेड़ की ठंडी छाया में बैठ सीरी बयार का सेवन कर थोड़ा विश्राम करने का भी समय नहीं मिलता; ऐसे अभागे को इस फरिश्ते की हवालात में भी जहाँ जीव मात्र को आराम और स्वास्थ्य मिलता है उसी तरह की बेचैनी और बे करारी रहेगी। तात्पर्य यह कि सच्ची गाढ़ी नींद उन्हीं को आती है जिनके दिलों में कोई गैर मामूली शिकायत नहीं रहती। बहुधा देखने में आता है ऐयाश शराबखोर देर से सोते हैं और देर

तक उठते हैं। इसी के विरुद्ध विद्याभ्यासी १२ या १ बजे तक किताबों के साथ आँख फोड़ा करते हैं और चार ही बजे उठ खड़े होते हैं। कितने ऐसे सुखिया जन हैं जिन को नींद बहुत जल्द आती है; कितने दरिद्र भी हैं जो दिन-रात सोया करते हैं फिर भी नींद के बोझ से हर दम लदे ही रहते हैं। बहुतेरे ऐसे भी सौभाग्यशाली हैं जिनको स्वभाव ही से बहुत कम नींद आती है और ऐसों को इस तरह का जागना स्वास्थ्य में कोई हानि नहीं पहुँचाता। परन्तु अधिकांश ऐसे हैं जिन को यह गैर मामूली जागना बहुत ही बिगाड़ करता है। कम सोना जैसा नुकसान पैदा करता है वैसा ही अधिक सोना भी। और फिर रात में देर से सोने का जैसा बुरा असर तन्दुरुस्ती पर है उससे अधिक भोर को देर से उठने का होता है; विद्यार्थी को देर से उठने का परिणाम अत्यन्त हानिकारक है। मनु ने तो सूर्योदय में सोने को यहाँ तक निषिद्ध कहा है कि जिसे सोते हुये सूर्य निकल आवें उसे चाहिए दिन भर उपवास करे और गायत्री का जप करता रहे। जो लोग पहले सबेरे उठते रहे पर पीछे देर तक सोने की आदत में पड़ गये उन्हें याद रहे कि सूर्योदय के पहले उठ जरा बाहर की तरफ टहल आने से कैसा सुख मिलता था; आहा! उस समय प्रातः परिभ्रमण से चित्त को कैसी शान्ति और प्रसन्नता प्राप्त होती है; उषा देवी के प्रसाद का अनुशीलन करने वाला स्वच्छ शीतल वायु; वनस्पतियों पर मोती सदृश्य ओस के बिन्दु; पखेरुओं का कलरव; अरुण-किरण के मिस मानो लाल झालर टकी हुई आकाश वितान की अनूठी छवि दिशाओं की मनोहरता मन को प्रमोद प्रत्येक अङ्ग में रोम-रोम को कैसी फुर्ती और सन्तोष देती है। वही छः घड़ी दिन चढ़े तक ऐंड़ाय-ऐंड़ाय खाट तोड़ने वाले के मन और शरीर में कैसा आलस्य शाठ्य और शैथिल्य तथा तथा सुस्ती छाई रहती है कि संपूर्ण दिन-का-दिन नष्ट बीतता है। इसी से हमारे पुराने आर्य ऋषियों ने लिखा है—

"अरुणकिरणग्रस्ता प्राची विलोक्यस्नायात"

माघ कवि ने शिशुपाल वध के ग्यारहवें सर्ग में प्रातःकाल का बड़ा ही अनूठा वर्णन किया है जिसके पढ़ने वाले को प्रातः परिभ्रमण का पूर्ण अनुभव घर बैठे ही प्राप्त हो सकता है।

अब धातु वाले सोने को लीजिये जिस से हमारा प्रयोजन धन से है। संसार के बहुत कम व्योहार ऐसे हैं जिनमें इसका काम न पड़ता हो; क्या फकीर क्या अमीर राजा से रङ्क तक सब इसकी चाह में दिन रात व्यग्र रहते हैं। कहावत है—

"इक कंचन इक कुचन पर किन न पसारो हत्थ"

"सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति"

इस सोने की लालच में पड़ मनुष्य कभी को वह काम कर गुजरता है जिस से उस की मनुष्यता में धब्बा लग जाता है इस कारण सब लोग सोने ही को दोष देते है। अर्थात् पाप-कर्म करने वाले को तो सब बचाते हैं और उस पाप के कारण सोने को जो एक जड़ पदार्थ है सम्पूर्ण अधर्म और अन्याय का मूल समझते हैं। सोने के बल आदमी राई को पर्वत और पर्वत को राई कर दिखाता है किन्तु संसार की और सब वस्तुओं के समान यह भी क्षण भंगुर है। बराबर सुनते चले आये हैं कि लक्ष्मी चंचला है और एक पति से सन्तुष्ट नहीं रहती। जिस राह में इसे डालिये सोना एक बार अपना पूर्ण वैभव प्रकाश कर देगा पर अफसोस नेक राह में यह बहुत ही कम डाला जाता है। कोई बिरले विरक्तों की तो बात ही न्यारी है नहीं तो संसार के असार प्रपंचों में आसक्त जन इसके लिए कोई ऐसा घिनौने से घिनौना काम नहीं बच रहा जिसे वे न कर गुजरे हों; कहां तक कहें इसके लिए भाई भाई कट मरते हैं, बाप बेटे को जान से डालता है। तवारीखों में कई एक राजा और बादशाह इसके उदाहरण हैं। किसी अङ्गरेजी कवि का कथन है—

For gold his sword the hireling ruffian draws, For gold the hireling Judge distorts the Laws,

Wealth heaped on wealth nor truth nor safety buys,

the dangers gather as the treasure rise.

यद्यपि कलह के तीन कारण कहे गये हैं जर, जमीन, जन; पर सच पूछो तो सब बिगाड़ का असिल सबब सिर्फ जर है। हमारा हिन्दुस्तान इस सोने ही के कारण छार में मिल गया। हमारे बेफिकर होकर सोने से हमारे अपरिमित सोने पर इतर देशीय म्लेच्छ गण बाज और चील की तरह आ टूटे, लाखों मनुष्यों की जान गई; अन्त को आखीरी बाज अङ्गरेज अपने मजबूत पंजे से उस पर जमो तो गये अब रूस इसके लिए मतवाला हो रहा है और ताक लगाये हुए है पर उसका ताक लगाना व्यर्थ है अब तो यहाँ आय सोने की जगह धूर फांकना है।

"सिद्धि रही सो गोरख ले गये, खाक उड़ावैं चेले"

अस्तु, इन सब बातों से हमें क्या? सोना निस्सन्देह संसार में सार पदार्थ है यदि सोने वाला स्वयम् सारग्राही हो और उसे नेकी में लगावे। इसमें एक यह अद्भुत बात देखने में आई कि पर्वत के सैकड़ों स्रोत से नदी के झरने की भाँति जब यह आने लगता है तो सैकड़ों द्वार से आता है और जितने काम सब एक साथ आरंभ हो जाते हैं। इधर जेवर पर जेवर पिटने लगे, उधर पक्का संगीन मकान छिड़ गया, सवारी-शिकारी अमीरी ठाठ सब ठठने लगे।

"अर्थेभ्यो हि विवृद्धेभ्यः संभृतेभ्यस्ततस्ततः।
क्रिया सर्वाः प्रवर्तन्ते पर्वतेभ्य इवापगाः" ॥

जब यह जाने को होता है तो सब चीज ऊपर से देखने को यथास्थित बनी रहती है पर गजभुक्त कपित्थ सदृश भीतर ही भीतर पोले पड़ टाट उलट मुँह बाय रह जाते हैं।

"समायाति यदा लक्ष्मीर्नारिकेलफलाम्बुवत्।
विनिर्याति यदा लक्ष्मीर्गजभुक्तकपित्थवत्" ॥

सितम्बर; १९११

३५—नई बात की चाह लोगों में क्यों होती है ?

पुराना जाताहै नया उसकी जगह क्यों आता है इसका ठीक उत्तर चाहे जो हो पर यह कह सकते हैं जैसे पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के आगे कोई ऊपर को फेंकी हुई वस्तु ऊपर को निरावलम्बन न ठहर के नीचे गिर पड़ती है वैसे ही प्राचीन का जाना और नवीनका आना भी एक नियम हो गया है। प्राचीन के जाने का शोक होता है पर साथ ही उसके स्थान में नवीन के आनेका जो हर्ष होता है वह उस प्राचीन के मिट जाने के विषाद को हटा देता है। इसी सिद्धान्त के अनुकूल मनु महाराज का यह वाक्य है—

"सर्वतोजयमन्विच्छेत्पुत्रादिच्छेत्पराभवम्"

मनुष्य सब ठौर से अपनी जीत की चाहना रक्खै किन्तु पुत्र से अपनी हार ही चाहे इसीलिये कि पुत्र में नई विच्छित्ति विशेष के आगे हमें कौन पूछेगा। भगवान् विष्णु के छठवें अवतार परशुराम का तेज उनके सातवें अवतार श्रीरामचन्द्र के आगे न ठहर सका इसी कारण कि पुराने से नये का गौरव अधिक होता है। रामचन्द्र और अर्जुन प्रभृति वीर योद्धाओं ने बड़े-बड़े युद्धों में जयलाभ किया सही पर ये दोनों भी अन्त में अपने पुत्र लव और बभ्रुवाहन से युद्ध में हार गये। इसीके अनुसार अँग्रेजी के महा कवि पोप की ये दो लाइन हैं।

We call our fathers fools, so wise we grow,
our wiser sons will doubtless think us so.

हम ऐसे अक्लमन्द हुए कि अपने बाप-दादा आदि पुरुषों को बेवकूफ कहते हैं निस्सन्देह हमारे लड़के जो हमसे विशेष बुद्धिमान होंगे निश्चय हमें भी ऐसा ही बेवकूफ ख्याल करेंगे। एशिया की सभ्यता

और शक्ति घटी। फारस, मिश्र के लड़िया आदि पुराने देश किसी गिनती में न रहे। यूरोप का प्रादुर्भाव हुआ, ग्रीस और रोम ने पुराने इतिहासों में स्थान पाया। बवीलन, नैनवे आदि पुराने नगर ढै गये, एथेन्स स्पार्टा और रूम रौनक में बढ़े। कालक्रम अनुसार फ्रांस, जर्मनी और ब्रिटेन इस समय अपने पूर्ण अभ्युदय को पहुँचे हुए हैं। धीरे-धीरे कुछ दिनों में इनको भी काल अपना कलेवा बनाय निगल बैठेगा। यूरोप नेस्तनाबूद होगा; अमेरिका उठेगा। समस्त ब्रह्माण्ड का यही नियम है। एक ओर सूर्यदेव का उदय होता है दूसरे ओर अस्त होते हैं एक ग्रह डूबता है दूसरे का उदय होता है।

भारतवर्ष में भी ठीक इसी तरह काल बीत रहा। वैदिक युग आया, पौराणिक युग गया, तंत्रों का प्रचार हुआ। तन्त्रों को भी मिटाय बौद्ध और जैनियों ने जोर पकड़ा। यहाँ के पुराने रहनेवालों को निकाल आर्यों ने अपना राज्य स्थापन किया, आर्यों का पराजय कर मुगल और पठानों ने अपना प्रभुत्व स्थापन किया। फिरंगियों ने मुगल और पठानों को भी उन्हीं आर्यों के समकक्ष कर दिया, जिन्हें जीत मुसल्मान मुसल्लमईमान बने थे और आर्यों को गुलाम और काफिर कहा। वेद की भाषा को हटाय संस्कृत प्रचलित हुई, लोक और वेद के नाम से जिसके दो भेद हुये जिसकी निर्णय पाणिनि को अपने सूत्रों में "लोके-वेदेच" कह कर अलग-अलग करना पड़ा। संस्कृत मुर्दा भाषा मान ली गई, प्राकृत चली जिसके मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि के नाम से १८ भेद हुये वह भी अठारहों प्रकार की प्राकृत किताबी भाषामात्र रही उसके स्थान में उर्दू, हिन्दी, बंगला, गुजराती, पंजाबी आदि के अनेक भेद अब बोले और लिखे जाते हैं और अब तो इन सबों को हटाय अँग्रेजी क्रम-क्रम सभ्यता की नाक हो रही है।

न सिर्फ हिन्दुस्तान ही में इस तरह का अदल-बदल हुआ वरन् समस्त सृष्टि की यही दशा है। एक प्रकार की शिल्पविद्या अनादृत होती है दूसरी उसकी जगह आदर पाती है। हमारे यहाँ की पुरानी

६४ कला कहीं नाम को भी न रहीं। यूरोप के नये-नये शिल्प चटकीले-पन और नफासत से समाज के मन को आकर्षित कर रहे हैं। पहिले का अभिचारण, जृम्भकास्त्र, मोहनास्त्र नाम मात्र को पोथियों में लिखे पाये-जाते हैं अब इस समय गिफर्डगन के सामने सब मात हैं। इसी तरह एक धर्म गया दूसरा आया, एक जाति अस्त हुई दूसरे के नवाभ्युत्थान की पारी आई। सारांश यह कि प्राचीन को मिटाय नवीन का प्रचार सृष्टि का यह एक अखण्ड नियम हो गया है। जिस नियम का मूल कारण यही है कि लोगों से नई बात की चाह विशेष रहती है और इसी चाह के बढ़ने का नाम तरक्की और उन्नति है। यूरोप इन दिनों नई ईजादों के छोर को पहुँच रहा है जिसका फल प्रत्यक्ष है कि यूरोप इस समय सभ्यता का शिरोमणि और जगतीतल में सबों का अग्रगण्य है। हमारे हिन्दुस्तानी बाप-दादों के नाम सती हो रहे हैं, परिवर्तन के नाम से चिढ़ते हैं, पाप समझते हैं, तब कौन आशा है कि ये भी कभी को उभड़ेंगे।

बुद्धिमान राजनीतिज्ञों का सिद्धान्त है कि दुनियाँ दिन-दिन तरक्की कर रही है। समुद्र की लहर के समान तरक्की की भी तरल तरंग जुदे-जुदे समय जुदे-जुदे मुल्कों में आती-जाती रहती है। इसमें संदेह नहीं बूढ़े भारत में सबसे पहिले तरक्की हुई इसलिये कि देशों के समूह में हिन्दुस्तान सबसे पुराना है; उन्नति, सभ्यता, समाज-ग्रन्थन का बीज सबसे पहिले यहीं बोया गया। मिश्र, यूनान, रोम आदि देश जो प्राचीनता में भारत के समकक्ष हैं सबों ने सभ्यता और उन्नति का अंकुर यहीं से ले-ले अपनी-अपनी भूमि में लगाया; उस पौधे को सींच-सींच अति विशाल वृक्ष किया और यह वृक्ष यहाँ तक बढ़ा कि पृथ्वी के आधे गोलार्द्ध तक इसकी डालियाँ फैलीं। रोम का राज्य किसी समय करीब-करीब समग्र यूरोप, अर्द्धभाग के लगभग अफ्रिका और एशिया पर आक्रमण किये था। ग्रीस और रोम की उस पुरानी उन्नति का कहीं अब लेशमात्र भी उन मुल्कों में बाकी नहीं है किन्तु विद्या,

कला, सभ्यता विविध विज्ञान और भिन्न प्रकार के दर्शन शास्त्रों में जो-जो तरक्कियाँ भारत, यूनान तथा रोम ने किया था वह भाषान्तर हो अब तक कायम हैं। जो बात एक बार ईजाद एक मुल्क में होती है उसका उसूल कहीं नहीं जाता। वृक्ष के समान एक भूमि से उखाड़ दूसरी में अलबत्ता लगाया जाता है और उस पृथ्वी में नया मालूम होने के कारण वहाँ बड़ी चाह से ग्रहण किया जाता है।

जैसा वृक्ष के सम्बन्ध में है कि कोई-कोई वृक्ष किसी किसी पृथ्वी में वहाँ का जलवायु अपने अनुकूल पाय वहाँ खूब ही फबकता है वैसा ही विद्या, कला, दर्शन आदि भी देश की स्थिति और जलवायु की अनुकूलता के अनुसार वहाँ विस्तार को पाते हैं। अभाग से भारत की स्थिति और यहाँ का जलवायु दर्शन और कविता के अनुकूल हुये यहाँ दर्शन और कविता की जो कुछ उन्नति हुई वह किसी देश में न की गई। यूरोप की पृथ्वी शिल्प और विज्ञान के अनुकूल हुई वहाँ के साहसी और उद्यमी लोगों ने इन दोनों में जो कुछ तरक्की किया उसे देख हम सब लोग दंग होते हैं और यूरोप निवासियों को दैवी-शक्ति संपन्न मान रहे हैं। पर यह स्मरण रहे कि जो कुछ उन्नति शिल्प-विज्ञान में भारत तथा यूनान और रोम ने किया था वह इतनी अल्प थी कि केवल अंकुर या बीज रूप उसे कह सकते हैं; अब इस समय सहस्रगुण अधिक पहले से वहाँ देखी जाती है तो यह सिद्ध हुआ कि दुनिया दिन-दिन तरक्की कर रही है और इस तरक्की की बुनियाद सदा नई बात की चाह है।

हिन्दू धर्म और रीति-नीति अब इस समय घिन के लायक हो रही है सो इसीलिये कि इसका नयापन बिलकुल खो गया। पुराने समय के ब्राह्मण जिन्होंने यहाँ की रीति-नीति प्रचलित किया यद्यपि स्वार्थी और लालची थे पर इतनी अकिल उनमें थी कि जब कोई रीति नीति या मजहब के उसूल बिल्कुल पुराने पड़ जाते थे और यह समझते थे कि प्रजा की रुचि इस पर से हटने लगी जल्द उसे अदल बदल कर नई

शक्ल में प्रचलित कर देते थे। मुहूर्त के बहुत से ग्रन्थ 'मुहूर्त चिन्तामणि' प्रभृति, धर्म शास्त्र के अनेक ग्रन्थ निर्णयसिन्धु आदि और बहुत से आधुनिक पुराण इसी बुनियाद पर बने और प्रचलित किये गये। निपट लंठ अब के ब्राह्मणों में इतना शऊर और अक़िल कहाँ कि इतना सोचैं कि हमारे धर्म के सिद्धान्त और रीति-नीति पुरानी पड़ते-पड़ते घिनौनी हो गई है, सभ्य समाज के लोगों को सर्वथा अरोचक हो गई है। अब इस में कुछ संशोधन और अदल-बदल करैं जिसमें नयापन आ जाय और लोगों को पसन्दीदा हो पर एक तो उनको अकिल नहीं है, बज्र मूर्ख होते जाते हैं, दूसरे स्वार्थ उनका इसमें बिगड़ता है अपनी थोड़ी सी हानि के पीछे पुराने हिन्दू धर्म को बात बात में दक्षिणा पुजाने के कारण अत्यन्त अश्रद्धेय और हँसने के लायक किये देते हैं।

कोई कोई जो अकिल भी रखते हैं और समझते हैं कि ऐसे ऐसे बेहूदे मजहबी उसूल अब इस रोशनी के जमाने में देर तक चलने वाले नहीं हैं वे कुछ तो शरारत और कुछ अपनी सामयिक थोड़ी-सी हानि देख उसमें अदल-बदल नहीं किया चाहते। स्वामी दयानन्द के देश हितैषिता के सच्चे उसूलों को इसी कारण से न चलने दिया वरन् दयानन्द का नाम लेते चिढ़ते हैं दूसरे यह कि धर्म के चोखे सिद्धान्त तो तलवार की धार हैं न उसके पात्र सब लोग हो सकते हैं न इस मगध को विषय-लंपट हमारे वर्तमान बिगड़े समाज को उसमें कोई सुख है।

आधुनिक ब्राह्मणों की यह भी एक चालाकी है कि जैसी रुचि प्रजा की देखा वैसा ही गढ़ंत कर डाला और सनातनधर्म की आड़ से उसे चला दिया। हमें इस सनातनधर्म पर भी बड़ी हँसी आती है और कुढ़न होती है कि इस सनातन का कुछ ओर-छोर भी है दुनिया की जितनी बुराई और बेहूदगी है सब इस सनातनधर्म में भरी हुई है। हमें तो कुछ ऐसा मालूम होता है कि दंभ और मक्कारी की बुनियाद जब तक सनातनधर्म कायम रहेगा और एक भी इसके मानने वाले बचे रहेंगे तब तक हिन्दुस्तान की तरक्की न होगी। क्योंकि जिस बात से

हम आगे बढ़ सकते हैं और जिसके प्रचलित होने से हमारी कुछ बेहतरी है वह सब इस सनातन के विरुद्ध है आपस का सह - भोजन, पन्द्रह या सोलह वर्ष के उमर की कन्या का विवाह, एक वर्ण के दूसरे वर्ण के साथ यौनिक-सम्बन्ध विवाह इत्यादि दूसरे देशों में आना जाना इत्यादि जितनी हमारी भलाई की बातें हैं सबों को सनातनधर्म मना करता है और हमें इस कदर जकड़े हुये है कि जरा भी हिल। डोल नहीं सकते तब क्या समझ हम सनातन को खैर मनावें

अस्तु, इस नये और पुराने के विवरण में अप्रासंगिक भी बहुत-गा गा गये। सारांश सब का यही है कि हमारी तरक्की की आशा हमें तभी होगी जब पुरातन और सनातन की ओर से तबियत हट नूतन की कदर हमारे चित में स्थान पावेगी और अपनी हर एक बातों में नये-नये परिवर्तन का प्रचार कर सभ्य देश और सुसभ्य जाति के समूह में गिनती के लायक हम अपने को बनावेंगे और अपने नवाभ्युत्थान से चिरकाल से जो सभ्यता और उन्नति के शिखर पर चढ़े हुये हैं उन्हें शरमावेंगे। जो एक दिन अवश्य होगा इसमें सन्देह नहीं। उसके होने में जितनी देर हो रही है उतना उमदा मौका हाथ से निकला जाता है।

सितंबर १८६३